वीर-विभूति

(वर्द्धमान महावीर-तीर्थंकर महावीर)

खण्ड १ व २

लेखक

पं० 'उदय' जैन

प्रकाशक

श्री जैन शिक्षण संघ

कानोड़ (राजस्थान) जिला उदयपुर

लेखक :

पं० 'उदय' जैन

संस्थापक–संचालक

श्री जवाहर विद्यापीठ एवं

श्री जैन शिक्षण संघ, कानोड़ (राज०)

प्रकाशक :

श्री जैन शिक्षण संघ

कानोड़, जिला–उदयपुर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण

मूल्य ४/– रु०

मुद्रक :

महावीर प्रिन्टिग प्रेस, हाथीपोल बाहर-उदयपुर (राज०)

प्राक्कथन

मैं जब २०-२१ वर्ष का था। मद्रास के सेंट थामस माउण्ट कस्बे के बंगाली बाजार में महावीर जैन पाठशाला में प्रधानाध्यापक के स्थान पर अध्यापन कार्य करता था, वहां के नवयुवकों की यह मांग थी कि महावीर की एक शौर्यपूर्ण जीवनी पढ़ने को मिले। उन्होंने मुझसे कहा 'आपके लेख जैन, जैन मित्र, जैन प्रकाश आदि कई पत्रों में पढ़ने को मिलते हैं। लेखनी ओजस्विनी है, अतः आप इसे लिखें।" इसी प्रेरणा को पाकर मैने वहीं श्री विजयराजजी मूथा के निवास स्थान पर रह कर इस पुस्तक (वीर विभूति) का पहला खण्ड लिखा। मैं उस समय आचार्य चतुरसेन शास्त्री की लेखनी से प्रभावित था। उतना प्रभाव पूर्ण तो नहीं लिख सकता, फिर भी उस समय की उम्र की भाषा और भावपूर्ण लेखनी जिस किसी तरह चला सका, लिखी। कुछ समय बाद इसे मैंने जिनवाणी मासिक में प्रकाशित करने के लिए दी। इस प्रकार वीर विभूति का प्रथम खण्ड जिनवाणी के निरन्तर दिसम्बर १६५० से सितम्बर १६५१ तक प्रकाशित होता रहा।

वीर विभूति के प्रथम खण्ड का नाम 'वर्द्धमान महावीर' रखा, जो कि पाठकों को रुचिकर लगा। आगे दूसरे खण्ड लिखने की भी प्रेरणा मिली, जिसे मैंने अभी पिछले दिनों ही लिखकर पूरे किये हैं।

मुझे वर्णनात्मक इतिहास लिखना नहीं आता। मैं अपने मौलिक विचार मुक्त रूप से लिख सकता हूँ। भगवान महावीर के गर्भावस्था में आने के बाद उनकी शारीरिक, आत्मिक एवं भौतिक ऐश्वर्यों की निरन्तर वृद्धि होती रही।

यह वृद्धि केवल ज्ञान, केवल दर्शन और क्षायिक लब्धि रूप में अनन्त वीर्य रूप में प्रकट हुई। तब तक महावीर वर्द्धमान होते रहे। अतः इस अवस्था तक का वर्णन वर्द्धमान महावीर खण्ड में संयोजित किया। अनन्त ज्ञान, दर्शन की प्राप्ति के बाद तीर्थ स्थापना कर धर्मचक्र प्रवर्तन कार्य किया। संघ एवं अपनी शक्तियों को विश्व में विस्तृत किया। अतएव अन्तिम महानिर्वाण अवस्था तक का वर्णन तीर्थंकर महावीर खण्ड मे दिया है। उनके (महावीर) सिद्धान्तों और कार्यों से सर्वज्ञता का विस्तार हुआ, वह शेष सारा तात्विक वर्णन सर्वज्ञ महावीर खण्ड में अलग प्रकाशित हो रहा है।

तृतीय खण्ड 'सर्वज्ञ महावीर' संक्षिप्त तात्विक विवेचनात्मक है, जिसमें अधिकांश मेरी निजी कल्पना और निश्चित मति की स्पष्ट झलक है। यह वर्तमान समय में महावीर के सिद्धान्तों और चरित्र को समयानुकूल परिस्थिति में ढालने जैसा वर्णन है। प्रबुद्धात्माएं इसे पढ़े और उचित-अनुचित का निर्णय कर मुझे सूचित करें, ताकि मैं उस पर अपनी विचारधारा को टकरा कर सत्य-ज्ञान की ओर बढ़ सकूं।

मैं सम्प्रदायवादी नहीं हूँ और न इस तरह के वर्णन से मैंने किसी को पक्षवाद की तरफ बढ़ाने का प्रयत्न ही किया है। फिर भी जो कुछ भी लिखा है उसे हंस क्षीर-नीर की तरह ग्रहण कर अनेकान्त पक्ष की सिद्धि में योग दें।

प्रकाशन में प्रूफ संशोधन की कमी रह जाने की गलतियों के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

'उदय' जैन

जो अनन्त

अनेकान्तमय वीर-विभूति को

'समणो माहणो' की

समन्वय सरिता मे प्रक्षालनकर

चेतन के विराट् रूप—विश्वात्माओं में

ज्ञान और श्रम से प्रतिष्ठित करते हैं,

उन—

महात्माओं,

अनन्त विज्ञानियों,

आध्यात्मिक एवं भौतिक शक्तियों के

आविष्कर्त्ताओं

और

परहित अपना

सर्वस्व विसर्जन करने वाले

त्यागी

गुरुजनों के

अमल-कमल चरणों में

सादर-समर्पण

शुभाशिष

श्री 'उदय' जैन, यथा नाम तथा गुण के अनुरूप वस्तुत: 'उदय' जैन हैं। जब से मेरा परिचय है उदयजी से, मैंने उन्हें विकास के पथ पर निरन्तर गतिशील देखा है। नव निर्माण के तो वे एक प्रकार से वैदिक स्वयंभू ब्रह्मा हैं।

उदय जी का चिन्तन, मनन एवं लेखन प्राणवान एवं तेजस्वी होता है। वे निर्भीकता के साथ सत्य के प्रति समर्पित हैं। जो कुछ कहना होता है उन्हें, उसे वे मत, पंथ एवं परम्परा से काफी ऊंचे उठकर बहुत स्पष्ट बेलाग भाषा में कह देते हैं। सत्य के साधक की यही एक राह है, जिस पर उदय जी शान के साथ चल रहे हैं।

श्रमण भगवान महावीर के पच्चीसौवें परिनिर्वाण-पर्व के मंगल प्रसंग पर अनेक मनीषियों द्वारा भगवान महावीर से सम्बन्धित साहित्य का लेखन एवं प्रकाशन हो रहा है। उदयजी ने भी इसी माध्यम से अपनी श्रद्धाञ्जलि प्रभु चरणों में अर्पित की है।

वीरायतन — उपाध्याय अमर मुनि

राजगृही (नालन्दा)

१३ जून १९७४

वीर-विभूति

वर्द्धमान महावीर और तीर्थंकर महावीर

वंदन-दर्शन

वीरः सर्व सुरासुरेन्द्र महितो
वीरं बुधाः सश्रिताः ।
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयः
वीराय नित्यं नमः ।।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं
वीरस्य घोरं तपो
वीरे श्री घृति कीर्ति कांति निचयो
हे वीर ! भद्रं दिशः ।।

महावीर की आवश्यकता

संसार पहिले से यह मानता आ रहा है कि समय २ पर कोई न कोई विशेष पुरुष अपनी कलाओं को बता जाते हैं और वे ही उनकी विशेषताएं (असलियतें) रखते हैं। सामान्य जन उनकी बराबरी करने में असमर्थ होता है।

संसार अनादि अनन्त प्रवाह वाला है इसमें न मालूम कितनी ही बार उन्नति और अवनति का पचड़ा हल किया गया होगा। कितनी ही जातियां समय समय में परिष्कृत और समय समय में अधोगति को प्राप्त हुई होगी। कितने ही देश, समाज और धर्म इसी चाल में गुजरे होंगे। संसार में एक न एक हो हल्ला करनेवाले का अस्तित्व हर घड़ी हर समय बना ही रहता है पर विशेषता यह है कि जब वह अपनी शक्ति को बढ़ा कर संसार में त्राहि त्राहि मचा देता है, तब वह संसार में अपने अस्तित्व का आदर्श कम कराये बिना नहीं रहता अर्थात कोई न कोई पुरुषोत्तम नर द्वारा सद्ज्ञान रस से पराजय पाकर शान्त हो जाता है। इसी लिये समय समय पर उन महान् पुरुषों का होना भी आवश्यक है।

आज से २५०० वर्ष पूर्व जो दशा उनके निकट भूत-काल की थी उसे देखकर विचारशील व्यक्ति के दिल में यह कहे बगैर न रहा जायगा कि ऐसा समय संसार के लिये

बहुत हानिप्रद नहीं, परीक्षास्थल का है और इसी कसौटी में तपकर जो रस सिञ्चन करता है वही "वीर" कहलाता है।

—: यज्ञ :—

संसार की आदिम और श्रेष्ठ जाति आर्य जिस समय अपना प्रभाव (आधिपत्य) सम्पूर्णतया जमा चुकी थी। जिस समय सर्वत्र 'आर्य' 'आर्य' की पुकार मचती थी। जिस वक्त आर्य ही एक गुरु जाति मानी जाती थी—वही जिन्दी और ज्ञान वाली समझी जाती थी। वही संसार की उस समय सर्वस्व थी। शेष सर्व देशीय शक्तियां प्राय: विलुप्त सी थी।

वैदिक काल का अन्तिम समय था। वेद ग्रन्थों की मान्यता का प्रकोप बहुत जोरों पर था। सर्वत्र वेद की जयध्वनि मची हुई थी। वेद ही सर्वाङ्ग सुन्दर परिपूर्ण तथा मार्ग दर्शक ईश्वररीय प्रणीत माने जाते थे। वे ही सबकी विश्वनीय पुस्तकें या शास्त्र थे। वे ही उनके आचार परि-पाटी के परिचायक थे। वे उनके लिये मोक्ष और स्वर्ग के माइल स्टोन (Mile Stone) ही नहीं, मार्गदर्शक बताये जाते थे। उन्हीं की मान्यता मनाते। उन्ही की पूजा करते। उन्हीं से शिक्षा लेते। यहाँ तक की सर्वस्व होमना भी उन्हीं के लिये होता था। उस समय की लहर वास्तव में संसार के लिये अद्वितीय थी। संसार ने ऐसा मौका (समय) बहुत कम पाया होगा जब कि सर्वत्र गाढ निद्रादेवी का प्रकोप था और केवल भारत में ही इस प्रकाश का आलोक था।

किन्तु जिस समय किसी का अति हो जाता है तो वह

उसके सर्वनाश नहीं तो आदर्श का या व्यक्तित्व के नाश का कारण जरूर होता है।

वह समय क्या था? एक समराङ्गण भूमि थी जिसमें अपनी अपनी बहादुरी अभ्यर्पण करने में लाखों पशुओं को बलि चढाने में, उनको बुरी तरह होमने में, उनका असली प्रयोग न जान कर बुरे राह बहने में और सर्वस्व "बाबा वाक्यं प्रमाणं" में दिखाई जाती थी। जो अधिक से अधिक इन कार्यों में अपनी शक्ति दिखाता वही भाग्यशाली और स्वर्गीय सुख का आह्वान करने वाला माना जाता था।

अहा! क्या ही अद्भुत समय था। सर्वत्र एक ही लहर लहरित हो रही थी। एक ही मार्ग, एक ही धर्म, एक ही पंथ अपना जोर पकड़े हुए था। वह समय कैसा था उससे कोई अनभिज्ञ भी न था।

संसार जब अपनी गति को रोक कर किसी अन्य गति का अनुसरण करता है तब उसकी दशा कैसी होती है? इस बात को समझने में बुद्धि नहीं तो योग्यता तो जरूर चाहिये। भला, सांसारिक या देशीय परिवर्तन तो दूर रहा एक व्यक्ति के व्यक्तित्व के परिवर्तन में क्या क्या अनुभव या विचित्र घटनाएं आ घटती हैं उन्हें जानने के लिये हर एक संसारी जीव पूर्णतया योग्य नहीं गिना जा सकता। फिर भी कतिपय अंश जानकर ही संतुष्ट होना पड़ता है।

जहां सारी जाति या देश के प्रवाह को रोकने का होता है, वहां कैसा विचित्र समय अपना अद्भुत परिवर्तन और कार्य प्रणाली के साथ प्रवेश करता है, यह उस वक्त को देखे

ही बनता है। ऐसा समय आने के पहिले सारे संसार, राष्ट्र, जाति या धर्म की क्या हालत हो गुजरती है, इसे जानने की परमावश्यकता है।

हर एक कार्य का अपना आदि अन्त सापेक्ष में होता है न कि एकान्त रूप में। संसार की एक शक्ति का अशुभ प्रयोग या शुभ संस्करण अब अपनी अंतिम हद का परिचय देता है, उसी समय वही उसका सत्यासत्य का निर्णायक और परीक्षा स्थल बन जाता है और आपस में जयेच्छा की भावना प्रबल हो उठती है।

मुझे वर्णन करते हुए बहुत विस्मय होता है कि एक शक्ति अपना प्रयोग पहिले किस ढंग पर करती है और वही कालान्तर में अपना रूप कैसे बदल लेती है। आज हमारे सामने वैदिक काल की योजना है। वैदिक काल सत्य ही सब लोगों का ज्ञानोदय या उन्नति के आरम्भ का समय था। संसार का उद्बोधक काल यही माना जाता है। फिर भी हमें पिछले दिनों के इतिहास के पृष्ठ खोलने पर ज्ञात हो जायगा कि वह अपना आदर्श किस श्रेणी पर ले जाकर डालता है और संसार में 'त्राहि त्राहि' मचा देने का मार्ग उत्पन्न कर देता है।

'विद्' धातु का बना हुआ जो रूप, जो ज्ञान, जो शक्ति, जो पुंज, जो ज्योति है वही 'वेद' कहलाता है। जिसका अर्थ 'ज्ञान' है।

उस ग्रन्थ की कितनी कदर हो सकती है जिसमें ज्ञान की हर-एक कला का सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन कर मानव

लोक को सच्चा मार्ग दिखाया हो, वास्तव में वह पूज्य है–माननीय है। पर हमें उस पुस्तक परूपणा के बारे में बहुत कुछ जान लेना है।

वेद ग्रन्थों में जो जो विषय जिन जिन ढंगों मे वर्णित हैं, वे वास्तव में अपने ढंग के निराले और एक ही हैं। उस समय का वह साहित्य हम सबके लिये अनुकरणीय जरूर था पर उस साहित्य के समालोचक या साहित्यज्ञ पण्डित उनका विवेचन, उनकी व्याख्या-अर्थ व्यञ्जना आदि किन रूपों में करते हैं–किस तरह वे स्वार्थान्ध हो अपने स्वार्थ ही साधते लेकिन सांसारिक वासनाओं की पूर्ति में उनका अर्थ ले घसीटते हैं। इनका विवेचन करने में एक भारी ग्रन्थ की आवश्यकता हो जाती है। थोड़ा सा विवेचन किये बिना आगे बढ़ना हमारे लिये पथ प्रदर्शक नहीं बन सकेगा, परिचायक नहीं बन सकेगा, सम्बन्ध का रिश्ता टूट जायगा। एतदर्थ यहां कुछ विवेचन केवल प्रयोगों का कर देना हमारे लिये विशेष ज्योतिकर और समयज्ञ हो सकेगा।

अश्वमेध—

अहा ! देखते हुए रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं कि इधर अश्वमेध यज्ञ की धुन सवार हो रही है। अश्वमेध यज्ञ करने वाला एक राजा है जो विश्व विजयी या राष्ट्र विजेता है, वही यज्ञ करता है और कराने वाले ये ऋषि महोदय हैं जो अपने मन्त्रों द्वारा उस यज्ञ की पूर्ति करते हैं। यज्ञ क्या एक माया का अखाड़ा है–करुणा का आगार है।

सर्वत्र मानव लोगों की धूम मची हुई है। कोई वेदिका

तैयार करते हैं। बहुत से समीधा (लकड़ियाँ) लिये आ रहे हैं। कितनेक लकड़ियां जमा रहे हैं। कई अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये तदुत्पादक द्रव्य संग्रह कर रहे हैं। कई व्यक्ति अश्वों को यज्ञवेदी के संनिकट सजाकर पुष्पादि नानाविध आभरणों से अलंकृत कर अपनी सहर्षता दिखा रहें हैं और वजीफे (बक्षीसें) की इन्तजारी में नानाविध विकल्प कर रहे हैं।

दूसरी तरफ हमारे ऋषि महोदय गण अपने मन्त्रोच्चारण कर हव्य पदार्थ अग्न्यर्पण कर रहे हैं और करा रहे हैं। शेष ऋषि मण्डली और विद्यार्थी (ब्रह्मचारीगण) सब अवशिष्ठ हव्य पदार्थ के भक्षण के लिये मुह ताके बैठे हैं। सर्वत्र प्रसन्न चेहरे नजर आते हैं। आज राज्य वृद्धि जयघोष का अश्वमेघ यज्ञ हो रहा है। अभी यज्ञ वेदी पर लाये हुए घोड़े खड़े हैं। उनको यह भी नहीं मालूम कि 'हमें काल (मौत) के मुंह में जाना होगा'।

क्या वेद अर्थात् ज्ञान यही शिक्षा देता है ? क्या अनेक प्राणी के होमने में एक आदर्श कायम रह सकता है ?

भला इन विचारों को कौन सोचे। वहां तो "बाबा वाक्यं प्रमाणं" का पाठ ही तो पढ़ा था। उन सत्ताधारी ब्राह्मणों के सन्मुख उन बेचारे दीन हीन प्राणी की करुण पुकार कौन सुने ? देखते ही देखते रोमांचकारी दृश्य सन्मुख हो आता है। घोड़ा यज्ञ की हवन वेदी पर खड़ा किया जाता है और बड़ी कठिनाई से अग्नि प्रवेश कराते हैं। घोड़ा हिनहिनाता है, चीखता है, अपने करुण शब्दों में 'त्राहि त्राहि' का आह्वान करता है, पर सुने कौन ? वह कूदने की कोशिश

करता है पर लोहे की जंजीरों में जकड़ा हुआ है। न वह हिल सकता है और न वह कुछ कर सकता है। वह भोला प्राणी है, उसमें नर संज्ञक विशेषज्ञता नहीं, इसीलिए तो विशेष बुद्धि वाले उस निरपराधी जीव को अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिये हवन सामग्री बनाते हैं।

अहो ! कैसा हृदय भेदी दृश्य खड़ा हो जाता है। किसी दयार्द्र का हृदय तो वहाँ एक मिनिट के लिये भी नहीं ठहर सकता, पर उस समय प्रधान शक्ति के सामने किसकी तूती बोले। उस समय ऋषि ही प्रधान शक्ति धारक और उस काल के गुरु थे। उन्हें भी अगर दया नहीं आई तो वे दया का पाठ कैसे सिखा सकते थे ?

वह प्राणी कितनी ही बददुआएं देता होगा। हाय विलाप करते हुए उसका अन्त तो हो ही जाता होगा, पर इन स्वार्थी मानवों के लिये क्या कुछ कर जाता था। यह कुछ समझ में नहीं आता। अगर उसके मरने में विशेष लाभ होता हो; सो भी नहीं। केवल विजय की खुशी का साधन मात्र समझा गया है। अगर मान लिया कि किसी निमित्त-वश किया गया प्रयोग है और उसे दूसरे प्रयोगों द्वारा जिन्दा भी कर सकते हैं पर मैं पूछता हूँ कि वह किस श्रेष्ठ निमित्त या कल्याण का परिचायक है ? वह तो केवल अपने मनोरंजन की पूर्ति मात्र दिखता है। जिन्दा करने का तो कोई भी प्रयोग नजर नहीं आता कि जिससे जला हुआ शरीर फिर उसी रूप में हो जाय। यदि राख मे ही वे पुन: प्राणीधारी शरीर बना सकते थे तो उनको अपने वीर्य का प्रयोग करके क्यों दुर्बल बनना था। जब कि उन्हें ऐसी

चिर संजीवनी बूटी याद थी तो फिर अपने मरे हुए और जलाये हुए पुत्र, पिता, भाई, सामन्त आदि परिवार और इष्ट मित्रों को क्यों नही जिन्दा कर, उनके सुयोग में वियोग-जन्य दुःख से मुक्ति पाते थे और इस तरह अपने मन मुआफिक अप्राकृतिक कार्यवाही कर संसार चक्र को क्यों नहीं घुमा देते थे। उनमें असलियत होती तो उनमें निरपराधी जीवों को होमने की बुद्धि भी प्राप्त नहीं होती।

हा ! दुःख होता है कि ऐसे मौके एक नहीं अनेक बार आये होंगे और उन ऋषि महर्षियों ने उन्हें हर्षपूर्वक समाप्त कर दिखाये होंगे। न मालूम उनसे उन सद्वेदों की शक्ति कब से प्रमाण कर गई थी। एक छोटा सा बच्चा होता है, वह जानता है कि मुझे कोई चोट पहुंचायेगा तो दुःख जरूर होगा। एक शरीर धारी की चोट उसके लिये दुःख-दायी होती है तो एक प्राणी के प्राणों को होमने में किस प्रकार हृदय द्रवित नहीं हो सकता। उन ऋषि महर्षियों की सद्-बुद्धि और दयाशीलता किस हवा में उड़ गई थी, यह कुछ पता नहीं पड़ता। वे सद्वेदों के वेत्ता किस झूठे और असत्य अर्थ के समर्थक बन गये थे। इसकी कला तो समय ही जान सकता है। समय ही ऐसा बनता है तभी उसके परिवर्तन की गुन्जाइश रहती है अगर वह अपनी शक्ति जाहिर न करे तो मनुष्यों और प्राणियों को दुःख सुख आदि अनुभव भी कैसे हों ? प्राणी को सदसद् विवेक संबन्धी उदाहरण भी कैसे समझाये जाय और मनुष्य की स्वार्थमयी बुद्धि किस प्रकार परमार्थमय बनाई जाय।

ऐसे ही अत्याचार एक नहीं अनेक जीवधारियों के

साथ होते थे जैसे अजमेध यज्ञ, गोमेध यज्ञ, नरमेध यज्ञ, न मालूम कितनी प्रकार के यज्ञ उस समय प्रचलित थे। उनकी संख्या गिनाने का यहाँ कोई सार नजर नहीं आता है। हमें तो उन दयनीय करुण-दशाओं का दृश्य सन्मुख करने का है।

गोमेध–यज्ञ—

हा ! हिन्दू समाज, जो हमेशा से गो ब्राह्मण रक्षक मानी जाती है। जिसके रक्त, गोघाती को देखते ही उबल पड़ते हैं, जिस जाति की शक्ति अनेकशः गो रक्षा के हेतु खर्च की गई थी भला, उन गो रक्षकों के दिल में गो भक्षक बनने की बुद्धि कैसे आई ? यह समझना भी दुष्कर हो जाता है।

गायों का होम करना इन हिन्दुओं और श्रेष्ठ आर्य के लिये क्या कलंक नहीं था ? वह कलंक ही नहीं; लेकिन उनके आदर्श को नीचा करने वाला दृश्य था। किन कि दुखद उपायों से उनका होम होता था यह कहने की जरूरत नहीं। आज अगर हम उसी रूप में होते तो मांसभोजियों के सन्मुख क्या कह सकते थे।

नरमेध–यज्ञ—

इसी तरह से इस काल कराल व्याल ने इस मनुष्य जाति को होमने में भी कोई कमी नहीं रखी। नरमेध य कर उनका भी होम होता था। उनको भी बलि-वेदी पर चढ़ना पड़ता था। मनुष्य जैसी समझदार और बराब की जाति पर इसका अत्याचार करते क्या उनके मंद भ्र

नहीं हो गये थे ? कितना घोर अंधेर ज्ञान शून्य नहीं; कुज्ञानी प्राणियों का कितना भारी कुकर्म ! !

इसी तरह् अज आदि के होम करने का कुछ कहना ही नहीं। पाप अत्याचार और अनाचार की हद हो चुकी थी। जब मानव मनुष्य का नहीं रहा, अपने स्वार्थवश जातिज मनुष्य का भी होम करने लगा, नरलोक को मानवों द्वारा इसी प्रकार के रोमाञ्चकारी करुण दृश्यों से नारकीय रूप धारण कराया गया। मानव लोक के नरसंज्ञक विशेष ज्ञानी की यह् दशा थी तो उन बेचारों को क्या कहना कि जिनको मानसिक ज्ञान का विशेष विकास (प्रकाश) नहीं था और जो मुंह से बोलकर या यत्न कर अपना कार्य स्ववश नहीं कर सकता था। इस प्रकार की इस मानव प्रकृति की विकृति पर इन प्रलयकारी दृश्यों का असर कैसे पड़े ? इस अंधकारमय निशाचरी चाल पर रविचरों की सी चाल का असर कैसे हो ?

हा, ईश्वर ! इन करुण दृश्यों को देखते हुए तो किसी प्रधान शक्ति की परमावश्यकता ही मालूम होती है। किसी विभूति द्वारा इस तप्त भूमि को रस रञ्जित करने की आवश्यकता थी। उस हाहाकारी प्रलय समान भयंकर रूप धारण करने वाली पृथ्वी पर अद्वितीय मांग थी। पापात्माओं का सदात्मा बनाने वाले श्रेष्ठ कारीगर की जरूरत थी।

उस समय बलिवेदियां ही सिर्फ उत्तम नहीं हो रही थी बल्कि शूद्र, स्त्री और पठित समाज में भी बड़ी भारी खलबली मची हुई थी।

वर्णभेद—

वर्णभेद की दशा का वर्णन भी करुण था। शूद्र यज्ञोपवित नहीं पहिन सकता। वह किसी को छू नहीं सकता। गुरुकुलों के पास बैठ नहीं सकता। यहां तक कि पठन और आध्यात्मिक ज्ञान के भी भागीदार वे नहीं थे। वे निकृष्टतम गिने जाते थे। खराब से खराब काम लेने पर भी सांसारिक तो दूर रहे ईश्वरीय मार्ग में भी उनसे घृणा की जाती थी। वे धार्मिक ज्ञान के अयोग्य समझे जाते थे।

प्रथम आर्य जाति सब एक थी और व्यवस्था जमाने के लिये आपस में अपने काम को बांट कर मुख्य चार भाग किये थे। उनमें से—

(१) पहले भाग (समूह) का काम विद्याध्ययन करना और कराना। धार्मिक क्रिया पालना और पलाना। इसी प्रकार ईश्वरीय मार्ग और सांसारिक कार्यों में शान्ति के लिये निरन्तर अभ्यास और अभ्यास करते रहना था। वे ही 'ब्राह्मण' कहलाते थे जिनका ब्रह्म की खोज करना मुख्य काम था।

(२) दूसरा भाग :- 'क्षत्रिय' जिनका काम अपने भुज बल से जन, धन और भूमि की रक्षा करना था।

(३) तीसरा भाग :— 'वैश्य' जिनका काम व्यापार और खेती द्वारा अन्य भागों का पोषण करना था।

(४) चौथा भाग :— 'शूद्र' जिनका काम गांवों की सफाई और चर्म कर्म द्वारा सेवक बन सब जातियों के रक्षण में सहायक होना था।

इन चारों भागों में इतना मेल था कि जिससे वे यथेच्छ कार्यों में लग गये। उसका नतीजा अब घृणा रूप में आने लगा। यह बात जरूर कहनी पड़ेगी कि उन ब्राह्मणों का बल प्रबल था; अतः उनके सामने कोई ऊँचा सिर उठाकर बोल नहीं सकता था।

ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ वर्ण समझा जाता था। अन्य सब उसके नीचे की श्रेणी में आते थे। इसीलिये उनकी छाप क्षत्रिय और वैश्यों पर पड़ना निश्चित था, वे भी उनसे नीचे से नीचे व्यवहार करने से नहीं चूकते थे।

उस समय ब्राह्मण गुरु-घण्टाल-देव बन गये थे, अतः वर्ण व्यवस्था भी उन्हीं की इच्छानुसार होती थी। गुण, कर्म आदि का खयाल रखना मानों उनके लिये घातक प्रहार था। ऐसी हालत में वे जैसा व्यवहार या सलुक करें वैसा ही निभ जाता था। यज्ञ में बिल्ली या कोई अन्य पशु अथवा पक्षी हवन की या खाने की सामग्री, छू ले या खा ले अथवा अस्तव्यस्त कर दे तो उसके लिये उनकी विशुद्धि करने की जरूरत नहीं। उनके चौके में कोई पशु पक्षी आजाय तो हर्ज नहीं। पर जाति का मनुष्य जो कि सबकी सेवा करता है, नहीं आ सकता-नहीं छू सकता। अगर किसी से भूलकर के भी ऐसा कार्य हो जाता, तो उन्हें राजकीय कठिन से कठिन दंडों का शिकार बनना पड़ता। हस्त या पाद विहीन कर दिये जाते। इनके से कोई ज्ञान भी प्राप्त करता या किसी कार्य में निपुण होता तो वह घोर पापी समझा जाता था। यहां तक कि उस पापी के, वह कार्य भुला देने के लिये अंग प्रत्यङ्ग काट दिये जाते थे। जैसा कि आचार्य

द्रोण ने भील एकलव्य का अंगुठा काट कर धनुषविद्या भुला दी। वह राजपुत्रों से भी विशेष कुशल था, फिर भी उन शूद्रों की भक्ति का नमूना देखिये कि वे किसी तरह चुपके ही चुपके उनके अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा अपने में भावी उन्नति का बीज बो रहे थे। कितनी घोर निगाह इन मानव देह-धारियों पर थी कि वे पशु से भी नीचे समझे जाते थे।

अन्य समाजों का भी यही हाल था। राजा तक ब्राह्मणों के अधीन होकर चलते थे। ब्राह्मण ही उस समय श्रेष्ठ गिने जाते थे। कला-कोविद् ब्राह्मण ही हो सकते थे, दूसरे शिक्षकों का मिलना उस समय कठिन (दुष्कर) ही था, फिर उनके द्वारा शिक्षित जनता भी उन्ही की गुलाम बने, इसमें क्या आश्चर्य है ?

विद्या और कला की शासन डोर ब्राह्मणों के ही पास थी। वह चाहे कैसा ही घोर पापमय कार्य क्यों न करें, ब्राह्मण के सच्चे अर्थ से क्यों न दूर हो जाय, वह सत्ताधारी ब्राह्मण ही रहेगा।

यहाँ तक सुनने में आता है कि उस समय यदि कोई भी राजा सन्यास लेता तो पुरोहित उस सब धन का अधिकारी समझा जाता था। किसी की रानी के अपवित्र या बुरा कार्य करने पर पुरोहित अपने घर में ले लेता था, और वह वहां पहुँच कर पवित्र मानी जाती थी।

वर्ण व्यवस्था का बुरा प्रयोग हो रहा था। जातिज ही उस समय वर्ण रूप में गिना जाता था। चाहे वह दुष्कर्त्तव्य क्यों न करे। ब्राह्मण कुल में जन्मा ब्राह्मण, वैश्य कुल का वैश्य,

क्षत्रिय कुल में पैदा हुआ क्षत्रिय, और शुद्र कुलोत्पन्न शुद्र समझा जाता। यदि कोई भी जातिज उच्च कर्म करता तो उसके लिये उन्नति का कोई भी मार्ग नहीं था। वर्णाश्रम व्यवस्था का हाल भी ऐसा ही था। ब्रह्मचर्याश्रम में २५ साल रहना ही पड़ता था और उसके बाद पच्चीस साल गृहस्थाश्रम, पच्चीस साल वानप्रस्थाश्रम तत्पश्चात् २५ साल सन्यासाश्रम, में रह कर ही मनुष्य अपना जीवन बीता सकता था। इसके विपरीत जीवन वाले को नीची श्रेणी का समझते थे। और यदि कोई बालकपन में ब्रह्मचारी रहे या गृहस्थी न बन कर साधु ही बन जाते तो वह सन्तान पैदा नहीं करने के कारण नरकगामी गिना जाता था, स्वर्ग का रास्ता उनके लिये बंद था।

"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति"

यह भी लोकोपचार का एक नियम था, धार्मिक-जीवन के अन्दर हर एक मनुष्य को इसी तरह करना पड़ता था। अगर आयुष्य कम हो और वह वानप्रस्थाश्रम तक न पहुंच सके तो उसके लिये धर्म का श्रेष्ठतम मार्ग बन्द हो जाता था। उसके लिये कोई भी उपाय नहीं था कि वह पहिले से ही धर्म कार्य में लग जाय इससे हर एक आदमी अपनी यथेच्छा उन्नति करने में असमर्थ हो जाता था। उन्नति में रुकावट डालने वाली वर्ण व्यवस्था थी। शरीर के अंगों के समान वर्ण व्यवस्था को मानने वाले अर्थात् सिर दिमागी काम करने वाले ब्राह्मण, भुजा युद्ध वीर क्षत्रिय, पेट धनोपार्जन करने वाले वैश्य, पैर सेवा और गंदगी की सफाई द्वारा रोगों से रक्षण करने वाले शुद्र। एक ही ईश्वर या प्रकृति का शरीर समझने वाले, एक दूसरे अंगों से घृणा

करने लग गये थे। वे यह नहीं समझते थे कि एक दूसरे के बिना हमारा निर्वाह होना कठिन हो जायगा। ऐसी विषम परिस्थिति वर्ण-भेद की हो चुकी थी।

स्त्री–समाज

स्त्री समाज की हालत और भी सोचनीय थी। वे संन्यास या दीक्षा आदि ग्रहण करने में अयोग्य समझी जाती थी। उनको पढ़ाना अधर्म गिना जाता था। उनको पैर की जूती बराबर समझते थे। नारी उच्च सैद्धान्तिक तत्वों की शिक्षा प्राप्त करने के अयोग्य समझी जाती थी। नारी जाति को अशुद्ध समझते थे और पति सेवा के सिवाय अन्य धार्मिक कार्यों में भाग लेने का हुक्म नहीं था। पति के मरने के बाद उसके साथ जल कर मर जाना ही उसकी सच्ची और उत्कृष्ट धर्म सरणि गिनी जाती थी। उन महिलाओं के लिए दूसरा धार्मिक मार्ग नहीं था। जो इस तरह से मरती (प्राणाहुति देती) वही सती समझी जाती थी, शेष जिन्दी रहने वाली स्त्रियां हीन चरित्रवाली गिनी जाती थी। क्या ही घोर कृतघ्नता का व्यवहार उन स्त्रियों के साथ होता था। स्त्री मर जाने पर पति न मरे और पति की अनन्य भक्तिवान होते हुए भी उसके मरने पर वह मरे या उसको धर्म के लिये मरना ही पड़ता था। पति, पत्नी के मरने पर दूसरी शादी करे और बन सके तो बहु विवाह करे तो कोई मना नहीं थी। पर स्त्री ऐसा कार्य करे तो कुलटा समझी जाती थी। उस समय कृतघ्न पुरुषों में वह बुद्धि नहीं थी कि दोनों ही मिलकर पूर्ण हैं और दोनों बराबर हर एक धार्मिक हो या सामाजिक कार्य के अधिकारी है। एक के बिना दोनों अपूर्ण अर्धाङ्ग हैं। उस समय के

शिक्षा-इतिहास पर दृष्टि डालने से मालूम होगा कि पुरुषों को पढ़ने के लिये गुरुकुल ऋषिकुल और आश्रम थे। महिलाओं के लिये कोई भी योग्य व्यवस्था न थी। वे घृणित और पापात्माएँ समझी जाती थी। कारण कि उसके सरीखे पुत्रों को पैदा करने वाली माताएं बनती थी। उनके साथ इतना बुरा व्यवहार भी होता था कि वे दक्षिणा में दी जाती थी। वाज-वक्त जुए के खेल में दावों पर भी रक्खी जाती थी।

इस तरह नारी समाज घोर अंधकारमय दशा में था। वे भी पुरुषों की तरह उनके साथ वर्णाश्रम व्यवस्था में बन्धी हुई थी। ज्ञान और धर्म आदि के कोई भी कार्य करना, उनके स्वाधीन नहीं था। यह क्या परतंत्रता की हद नहीं थी तो और क्या था ?

देव मान्यता

देव पूजा का प्रकोप था। चन्द्र, सूर्य, दिशा मेरु, देवी, अग्नि, भोजन, नदी आदि अनेक द्रव्यों की पूजा करते थे। वे उनको ही अपना आराध्य देव मानते, कारण उनकी बदौलत ही वे जिन्दे रहते थे, ऐसी उनकी मान्यता थी। वे मनुष्य पूजा के महत्व को भूल चुके थे कि मनुष्य भी कोई योग्य विशेष सत्ताधारी है। उसको ही पूज्य मानना चाहिये वे अपने को भूल कर ईश्वरीय या देवी शक्तियों पर निर्भर रहते थे। "देव" "देव" "देव" पुकारते थे और देव-देवी की पूजा करते थे। अपने सासारिक सुख के लिये मूक पशुओं का बलिदान करते और उन्हीं में आनन्द मानते थे। वे समझने थे कि मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता है। एक

पत्ता हिलता है तो वह केवल ईश्वर की स्वेच्छा से, प्रेरणा से, ईश्वर सर्वशक्तिमान है। शुभाशुभ फलदाता ईश्वर ही है। इस तरह की मान्यता से कर्त्तव्यच्युत हो पुरुषार्थ हीन हो गये थे। "देव-देव आलसी पुकारा" के अनुचर बन गये थे। अर्थात् मनुष्यत्व का अपनाना उनके स्वाधीन नहीं था। उनकी मान्यता ईश्वर को प्रसन्न करने तक ही सीमित थी। आगे वे उसके बारे में कुछ नहीं समझते थे न वे इनके जानने की कोशिश ही करते। वे अपने को ईश्वरीय लीला का क्रीडा मात्र समझते थे। करना कराना भगवदिच्छा पर निर्भर था। जीव और ईश्वर सम्बन्धी सच्ची खोज भी न कर पाये थे। इसीलिए उनकी यही अन्ध मान्यता थी कि मनुष्य अपना कर्त्तव्य पालन कर ईश्वर तुल्य नहीं बन सकता, न उसमें ईश्वर तक की योग्यता ही हो सकती है। ईश्वर समय समय पर अवतार लेकर दुष्टों को मारकर धर्म की रक्षा करते हैं। इस तरह की रूढ़िपूजा और अनेक आडम्बरमय धर्मों की पूजा होने लग गई थी। नर मनुष्यत्व और उनके कर्त्तव्यों को भुला बैठे थे- सच्चे ज्ञान से हाथ धो बैठे थे।

पार्श्व संघ—

भगवान पार्श्वनाथ को हुए अभी तीन सौ वर्ष भी नहीं हुए थे और एकदम ऐसा घोर अन्धकार छा जाना एक बड़ा आश्चर्यजनक सा प्रतीत होता है। क्या पार्श्व भगवान ने केवल आत्म साधना के सिवाय लोकोपकार में ज्यादा भाग नहीं लिया था ? यथेच्छ प्रचार नहीं किया था ? इसका ऐतिहासिक कोई पुरावा नजर नहीं आता, पर इतना जरूर

मानना पड़ेगा कि भगवान पार्श्वनाथ के समय में उनको ऐसी आवश्यकता मालूम नहीं पड़ी होगी अर्थात् उस समय इन रूढ़िवादियों का इतने जोरों में प्रचार नहीं था, अगर हुआ भी तो उसमें उन्होंने सुधार जरूर किया होगा ?

इस तरह का एकदम युग परिवर्तन होना कोई नई बात नहीं है। आज हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि करीब ५०-६० वर्षों में ही वैज्ञानिक युग कितनी उन्नति कर गया है। इसी तरह उस वक्त ऐसी लहर बह गई होगी, जिससे एक दो शताब्दी में ही घोर अन्धकार हो गया।

जो हो सो हो इतना तो कहना ही पड़ेगा कि पार्श्व संघ के कुछ आचार्य और साधु उस समय मौजूद थे। वे चातुर्यामिक धर्म का प्रचार भी कर रहे थे।

रूढ़िवादों का प्रकोप पीछे से हुआ था, कारण की अगर पार्श्व भगवान के वक्त में ऐसा हाल होता तो वे अपने संघ का पाया मजबूत कर जाते। यही कारण है कि उन्होंने सिर्फ चातुर्यामिक धर्म का ही प्रचार किया (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, और निष्परिग्रह)। ब्रह्मचर्य के प्रचार की ऐसी आवश्यकता उन्हें मालूम नहीं पड़ी थी। वास्तव में वह समय शान्ति का था, नहीं तो वे पार्श्व भगवान महावीर की तरह बारह व्रतों का और दूसरे भी आवश्यक सुधार का जरुर प्रचार करते। इस तरह भगवान पार्श्वनाथ के संघ को भी दुर्दशा हो रही थी। इने-गिने साधु और श्रावक उनके संघ में रह गये थे। उन थोड़े से धर्मधारियों की ऐसे बड़े गिरोह के सन्मुख क्या चलती थी ? सर्वत्र अपने अपने या अपने पराये का दौर दौरा हो रहा था। कोई किसी की नहीं

सुनता था। ऐसी दशा होते हुए भी प्रचार कार्य शुरु था। प्रचारक विशेष शक्ति धारी नहीं होने से ऐसी खलबली मच गई थी।

वितण्डावाद—

वर्णाश्रम की बुरी हालत हो जाने से सर्वत्र धार्मिक क्रिया काण्डों में बड़ा भारी मतभेद चलने लगा। एक ऋषि दूसरे ऋषि का प्ररुपणा नहीं मानता था और अपने को ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता समझने लग गये। जिधर देखा उधर अपनी टांग लम्बी किये हुए अपने-अपने मत लिये हुए ऋषि महर्षि-गण सर्वत्र फैल रहे थे। भिन्न भिन्न ऋषियों के पृथक् पृथक् आश्रम थे। विद्यार्थी भिन्न भिन्न पद्धति की शिक्षा प्राप्त करते थे। उनका कोई भी एकीकरण नहीं था। लोग भी धार्मिक पचड़ों में पड़ने की अपेक्षा अर्थात् श्रेष्ठतम मार्ग अपनाना कठिन प्रतीत होने से भिन्न ऋषियों द्वारा किये गये सरल मार्ग अपनाने लगे—**'अपनी ढपली अपनी तान' खींचने लगे**। इसी कारण से शास्त्रार्थ और व्यर्थ के वितण्डावादों का बहुत जोर था। जहां कहीं देख लें वहीं पर शास्त्रार्थ और वाग्युद्ध के साथ साथ लड़ाइयाँ भी होती थीं। कोई किसी को नहीं मानता था।

ईश्वर और धर्म की मान्यता सम्बन्धी अनेक मत उत्पन्न हो गये। दर्शनों की उत्पत्ति के भी ये ही कारण थे। ऐसे समय में समन्वय करने का, किसी को भी नहीं सूझता था।

विषमता—

लौकिक धर्मों के परिपक्व हो जाने से लोग स्वार्थी बन

गये थे। अपने धन माल और गुरुओं के ममत्वी बन गये थे। दूसरों को दान देना और दुखों को सुनना अपना कर्त्तव्य नहीं समझते थे। अपनी मान्यतावालों की ही पूछ थी बाकी व्यक्तियों की जड़ काटने के अभ्यासी हो गये थे। सर्वत्र सच्चे मार्ग के नाम पर धामधूम और हो हल्ला मचने लग गया। धर्म में विश्वास उठ गया। मनुष्य एक दूसरे को कुछ भी नहीं समझने लगा। यहाँ तक कि उनकी कोई सुव्यवस्था भी उनमें नहीं बन पड़ती थी। जिधर जाते उधर सतोषकारक उत्तर कोई नहीं दे पाता था। इसी तरह से उनका धार्मिक और आत्मिक ज्ञान सूखा पड़ गया था। दुष्टों और गुण्डों की बन आई थी। भलों की कोई पूछ नहीं। बलवान निर्बलों को सताने लगे। झूठे का सच्चा और सच्चे का झूठा होने लगा। पृथ्वी पाप और अत्याचार के बोझ से लदी हुई थी। गुण्डे और बदमाश बड़े बड़े उच्च घराने और धर्मानुयायियों में छेड़ छाड़ करने लगे।

ऐसे समय में किसी अहिंसा प्रचारक, सत्य मार्गज्ञ समन्वय वेत्ता, प्रेम के पुजारी, साम्यवादी और सत्यधर्म-प्रवर्तक की मांग थी। सर्वत्र ऐसी दुर्व्यवस्था में किसी वीर का पदार्पण करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था।

भगवान वीर प्रभु का आगमन

जब इन सारे अधर्मों का प्रबल साम्राज्य फैला हुआ था। इसी समय अपने प्रकाश से प्रकाशित करने वाले, कुमार्गगामी रात्रिचरों को जो अंधकार के कारण अपना काम बना रहे थे, भगाने वाले, कुविद्या के कारण अपने यथेष्ट मार्ग को भूल कर इधर उधर धोखा खाने वाले आसुरी प्रकृतियों के शिकारी बने हुए अज्ञानियों को दिव्य-ज्ञान-चक्षु योग्य साधन जुटाने वाले, भ्रष्टाचारियों को सत्पथ बतलाने वाले, वितण्डावादियों के छक्के छुड़ाने वाले, रूढ़ि-पूजकों को भयभीत करने वाले, हिंसकों को अहिंसा के पथिक बनाने वाले, एकान्तवादियों को प्रेमानन्द लुटाने वाले, मनुष्यत्व में ईश्वरत्व का ज्ञान कराने वाले, ईश्वर कर्तृत्व के पुजारियों को स्वत्व का बोध देने वाले, ईश्वराधीन बने हुए प्रमादी–आलसियों को अपने उद्बोधन द्वारा जागृत कर कार्य–रत करने वाले, सच्चे यज्ञ सच्चे ज्ञान और सच्चे वैराग्य सह तपश्चरण का तेज आलोकित करने वाले, स्वकीय तेज से सर्व संसारी जीवों को अपूर्व शान्ति का अनुभव कराने वाले, सच्चे शिक्षक–सच्चे प्रचारक–सच्चे तपस्वी नरेश्वर भगवान तीर्थंकर-महावीर के गर्भ में आने के पूर्व १४ महा स्वप्नों का मातृ–देवी को आभास हुआ।

मातृ–देवी को इस आभास से अपूर्व प्रसन्नता हुई।

वह इस आनन्द-मय स्वप्न सृष्टि को प्रकट करने में अपनी उत्सुकता को रोक न सकी। अपने पतिदेव को दिव्य-स्वप्न संसार की रचना को कह सुनाई। पतिदेव क्षत्रिय थे अतः वे इसके रहस्य को मनोभन समझ गये। पत्नी को धर्ममय रात्रि जागरण करने का आदेश दे स्वयं भी इसी ओर बढ़े।

स्वप्नों का दर्शन करना, किसी भविष्य के कार्य की सूचना पाना है। शुभ स्वप्नों का फल शुभ कार्य रूप में प्रकट होता है। अशुभ स्वप्न अपना अशुभ कार्य कर दिखाने में सफल-यत्न होते हैं। यह स्वप्न सृष्टि संसार में कई उद्बोधन देकर प्रति घड़ी मानव-समाज में नया रक्त संचार कर रही है। सत्यासत्य का निर्णय करने के पहले इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि भावों का संक्रमण ही स्वप्न-संसार है। मानसिक प्रगति चक्षु-दृश्य संसार को छोड़ कर अदृश्य अथवा अदृष्ट दृश्य की ओर बढ़ती जाती है और वही स्वप्न की जननी बन जाती है। मन को ऐसी स्थिति में पूर्ण स्वतंत्रता होती है इसीलिये वह शुभाशुभ कार्यों का उद्बोधक भी बन सकता है।

मातृ-देवी को शुभ स्वप्नों मे शक्ति संपन्न प्राणि का अपने गोदी में प्रकट करने का दिव्य संदेश प्राप्त हुआ है। वह संदेश भगवान वीर प्रभु का गर्भ स्थिति में अवतरण होना सिद्ध करता है। उसी को 'भगवान वीर प्रभु का गर्भ में आना' कहते हैं। यही आगमन का प्रथम आभास है।

गर्भ स्थिति में वृद्धि क्रम के साथ जननी बड़ी उत्सुक शान्त और आनन्द के दिव्य स्रोतों के प्रवाह में बहती रहती है। उसको सब प्रकार से योग्य सुयोग मिल जाते हैं। वैद्य

विशारदों की वहां जरूरत ही नहीं होती है। इन भावों को समझाने के लिए अभी अधिक समय नहीं लेना है। यह निश्चित है कि पुत्र या पुत्री के लक्षण गर्भवास में ही अपनी माता द्वारा प्रशस्त हो जाते हैं। कई इस मान्यता के मानने वाले हैं कि जैसा संस्कार माता–पिता गर्भ स्थिति में डालना चाहें सन्तान पर पड़ सकता है। यह मान्यता भी किन्हीं अंशों में बिलकुल ठीक है, फिर पूर्व संस्कार–परिस्थिति और संस्कारों को भी पार कर जाती हैं जिसे हम दिनों से देखते आ रहे है।

मानव–समाज यह कल्पना प्रथम ही कर लेता है कि इस समय किसी पुरुष की परम आवश्यकता है। वही पूर्ति रूप में प्रकट होने के लिये समय के साथ ही सत्य कायम हो जाती है।

वीर प्रभु सर्व सुयोग संपन्न मातृ–देवी की कुक्षि में वृद्धि क्रम को प्राप्त हो रहे हैं। कभी कभी बालक का हिलना या आन्तरिक व्यायाम करना एकदम बन्द सा हो जाता है, उस समय माता और इतर कुटुम्बी जनों को बड़ा आघात पहुंचता है। वही चमत्कार भगवान वीर की माता को भी प्राप्त हुआ। सर्वत्र शोक के विचार और भाव फैल गये। उत्सुकता मिट सी गई लेकिन 'त्रिभूति' के ऐश्वर्य ने अपनी लीला सिमेटली और शान्ति के साथ उल्लास का प्रवाह बहा दिया। यही है रचयिता की विशेषता जोकि आगे की भूमिका बनाने में सहायक बनती है।

उपरोक्त कल्पना सत्य हो कि असत्य ! हमें इसका निर्णय नहीं करना है। हमें तो इस कथन से भी मक्खन

निकाल लेना है। सांसारिक वातावरणों का पर्दा बड़ा मोह मय है उससे दूर हटने पर उपराभ मिल सकता है। गर्भ स्थिति में ऐसे कई वक्त अनुभव देखने में आये है अतः असत्य कल्पना भी नहीं कह सकते। इसीलिये हम इसे महावीर के जीवन क्रम के विकास में अंग रूप मानते हैं।

भगवान वीर प्रभु संसार की रचना को गर्भ में रहते हुए भी देख सकते हैं—सोच सकते हैं। यही इस वर्णन की विशेषता है। वीर की विशेषता इन बातों से नहीं वरन् कार्य क्षेत्र में उतरने से मालूम पड़ेगी।

जन्म स्थान—

संसार की अनेक भूमियां हैं। भिन्न भिन्न ऋतुओं का परिवर्तन भी भूमियों की स्वकीय परिस्थिति के अनुकूल हुआ करता है। कहीं सर्दी ज्यादह तो कहीं गर्मी बहुत पड़ती है। कोई सूखा और कोई बरसाती प्रदेश है। कहीं दल-दल है तो कहीं रेती बिछी हुई है। किसी देश में रात से दिन बड़े होते हैं और कहीं दिन से रात्रियां लम्बी होती है। कहीं दिन रात का परिवर्तन सिर्फ चन्द महीनों के लिये ही होता है। ऐसा प्रदेश बिल्कुल कम नजर आता है जहां ऋतुएं अपना साम्य बताती हों।

भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहां समय २ पर सभी ऋतुएँ अपना असर बताती है। बरसाती दिनों में वर्षा, सर्दी के दिनों में ठंड और गरमी के दिनों में उष्णता अपना प्रभुत्व जमाती है। ऋतु साम्य प्रदेश सिर्फ हिन्दुस्तान ही है। यहां की भूमि रेतीली, पहाड़ी, दल दली, उपजाऊ, मनोहर दृश्यों

वाली और सब प्रकार के प्राकृतिक ऐश्वर्यों से सम्पन्न है।

हिंसा प्रधान देश में दिव्य विभूतियाँ पैदा नहीं होती वरन जब अहिंसा प्रधान देश में हिंसा का साम्राज्य बढ जाता है तभी वहाँ दिव्य शक्तियाँ प्रकट होती है। अधिकांश विभूतियाँ उत्तरी भारत में हुई हैं। उत्तरी भारत में ही अधिकाधिक उदार चरित पुरुषों का इतिहास उपलब्ध होता है। और विशेष कर गंगा और यमुना की तटस्थ भूमियां ही उच्च पुरुषों को उत्पन्न करने में अधिक श्रेयशाली बनी है।

जहां की सुरम्य, सुन्दर और मनहर भूमि है, उपजाऊ और रस प्रद जमीन है। जहां के जड़ और चेतन पदार्थ अत्यधिक सरस हैं। जहां पर सुसंस्कारित जातियां वास करती है। वही स्थान योग्य परिस्थिति के लिये मान्य होता है।

भारतवर्ष के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि पौराणिक युग के अन्त समय से बौद्ध काल तक उत्तरी भारत के मगध देश के राजाओं का साम्राज्य चहुं ओर फैला हुआ था। इन्द्रप्रस्थ के पश्चात मगध देश में कौशाम्बी, राजग्रही, वैशाली, अयोध्या, काशी आदि नगरियों को हिन्दुस्थान की राजधानियां बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वैशाली नगरी को भी समय की गति के साथ राजधानी का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसी को भगवान वीर प्रभु की जन्म भूमि के नाम से पुकारते आये हैं। महावीर के लिये वैशाली नगरी कोई विशेषता रूप नहीं थी लेकिन हमारे लिये वह भूमि भी पूजनीय बन गई है।

वैशाली नगरी के एक भाग का नाम क्षत्रियकुन्ड या

कुंडलपुर था। वह उस नगरी में कुंडल की तरह सुशोभित था। और उसी सुशोभना के कारण वीर जन्म का प्रभाव सहने में समर्थ हुआ। भगवान वीर का जन्म कुंडलपुर ग्राम में हुआ। इसे ही हम जन्म स्थान कहते हैं।

माता पिता—

क्षत्रिय—कुण्ड नगर भाग को रञ्जन करने वाले सिद्धार्थ नाम के राजा थे, वे ही अनेक गणराज्यों के नायक भी थे। ये हमारे चरित नायक के पिता श्री थे। इनकी पवित्र भक्ति मती भार्या त्रिशला नाम की परम सुभगा पति परायणा देवी थी। इन्ही दम्पति को महावीर जैसे वीर-सिंह को अपने पुत्र रूप में प्रकट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

युगल दम्पति धर्म परायण और क्षात्र कर्त्तव्य को भली भांति समझे हुए कर्तव्यशील कर्मयोगी थे। ये दोनों ही भग-वान पार्श्वनाथ के संघ के अनुयायी थे। पार्श्वशासन के प्रवर्तकों के परम भक्त और संतों के सुशील अनुयायी थे। इन पर जिन धर्म का पूर्ण प्रभुत्व था। यही कारण था कि भगवान वीर जैसे पवित्रात्मा को प्रकट करने में समर्थ हुए। दोनों ही धर्म रक्षकों की गिनती में आते थे। उनकी शिक्षाएं, उनके संस्कार और उनका आचरण वीर की शक्ति को विकसित करने में अधिक सहायक बने थे।

पूर्व जन्म के प्रबल पुण्योदय के प्रभाव से तीर्थंकर जैसे महान् धर्म प्रवर्तक रूप में अपने रक्त कार्य से जो तेज संसार को अर्पण किया उसके लिये तीनों लोक उन माता पिता के कृतज्ञ हैं। यह पृथ्वी भी ऐसे नर रत्नों को पैदा करने वाले पुरुषों से धन्य बनी है।

महावीर के पिता सिद्धार्थ और माता त्रिशला इस अर्थ को सिद्ध करने में स्वनाम धन्य बने हैं कि पिता का अर्थ वीर पुत्र पैदा करने में सिद्ध हुआ और माता को युगल जोडी के अतिरिक्त तृतीय आधार रूप स्तंभ के आश्रय भगवान वीर से अपना भार उतारने में अपना बोझ कम करने में सहारा मिला। इसी हेतु नाम गुण के साथ ही सब संयोगों का पूर्ण योग प्राप्त हुआ।

जैन तीर्थंकर क्षत्रियत्व में—

सांसारिक दुर्व्यवहारों को नष्ट करने के लिये योग्य और वीर प्रचारक की जरूरत होती है। और यदि योग्य प्रचारक क्षतात् (दुःख से) किल (निश्चय ही) त्रायते रक्षतीति क्षत्रियः (रक्षण करता है वही क्षत्रिय है) का अनुगामी न बना तो उसका प्रचारक होना न होना दोनों बराबर है।

हिन्दुस्तान में ही नहीं, सर्वत्र रक्षा करने वाली, युद्ध करने वाली, पौरष दिखाने वाली और श्रेय में भाग लेने वाली जाती मुख्य पदाधिकारिणी मानी गई है। प्रजा पालक जाति भी वही बन सकती है। इतर जातियां इसकी बराबरी करने में असमर्थ रहती हैं। सारा नैतिक रक्षण भार भी इसी जाति पर रहता है। जानमाल का रक्षण करने वाली ऐसी सुयोग्य जाति और नहीं है।

यद्यपि ब्राह्मणों ने अपने ज्ञान—मद में अंधे हो कर भले ही अपने को सब वर्णों से उच्च बना लिया हो, पर सच्ची वीरता, रक्षण शक्ति और प्रचार सम्बन्धी योग्यता जैसी इस

उच्च क्षत्रिय जाति में होती हैं वैसी लियाकत अन्य जातियों में नहीं है। अन्य जातियां तो इसी के आश्रय में पनपती, फूलती और फलती है। अतः यह कहने को ज्यादा नहीं रहा कि संसार में तेजस्वी जाति, अगर जिन्दा थी, है या होगी तो वह सिर्फ क्षत्रिय जाति ही है। अन्य जातियां तो इसी की रक्षण सामग्रिया हैं।

सच्चा कौशल्य और सच्ची वीरता जिस जाति में होती है वही उच्च मनुष्य पैदा कर सकती है, वही युग परिवर्तन कर सकती है। चाहे वह क्षत्रियता दुष्ट जन-बल संहरण में या सद्धर्म प्रचार के काम में लाई जाय। क्षत्रिय जाति सहन करने में बड़ी क्षमताशालिनी होती है इसीलिये हमारे धर्म प्रवर्तक—तीर्थंकरों का इस जाति में प्रकट होना हमारे लिये गौरव की बात है। सिर्फ गौरव ही नहीं यही बात हमारे धर्म की असलियत कायम रखने और प्राचीनतम बनने का पुरावा भरती है। यह कल्पना ही नहीं, निर्विवाद सिद्ध और पूर्ण सत्य है कि जैन धर्म के उक्त उसूलों के प्रचार के लिये यही क्षत्रिय जाति योग्य सिद्ध होती है। इसी लिये तीर्थंकर क्षत्रियत्व में और क्षत्रियत्व उच्च सिद्धान्तों के प्रचारकत्व में सन्निहित है। जैन धर्मियों ने गुण कर्म प्रधान क्षत्रिय कुल को उच्च वर्ण और ऊंचा कुल माना है।

इन्हीं कारणों से जैन तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में जन्मे है। उसी कुल द्वारा जयन शीलता का परिचय दिया है। इस-लोक के सांसारिक जीवों को मारकर नहीं, वरन उनका सच्ची शिक्षा द्वारा रक्षण कर उनके आत्म शत्रुओं—दुष्कर्मों को नाश करने में समर्थ हुए हैं। ऐसे ही मार्ग के प्रचार

करने में और मार्गानुसार चलने में सच्ची मुक्ति का आदर्श अंकित है।

क्षत्रिय जाति प्रारंभ से रूढ शब्दवाची नहीं वरन तदनुकूल कार्य करने वाली कर्म प्रधान ही स्वीकारी गई है। जैन धर्म क्षत्रियों का धर्म है। जो इसकी पालन करने में समर्थ है वही क्षत्रिय है। क्षत्रिय की व्याख्या तदनुकूल प्रवृत्ति करना ही है। व्यर्थ को नामदार जाति हमारा कुछ उपकार नहीं कर सकती।

भगवान वीर भी क्षत्रिय थे। वे ऐसे रक्त चूसने वाले क्षत्रिय की सन्तान नहीं थे लेकिन अभय दान देने वाले बड़े रक्षक थे। क्षत्रिय के असली तत्व को समझाने वाले वीर थे। क्षत्रिय सन्तान ही नहीं क्षत्रिय-कुल-सूर्य थे। क्षत्रियों का रास्ता साफ करने वाले क्षत्रिय वंश शिरमौर थे।

उन्ही का प्रताप है कि आज भी हम-जैन निरामीष भोजी क्षत्रिय लाखों की तादाद में मौजूद हैं। सच्चा जैन ही सच्चा क्षत्रिय है और सच्चा क्षत्रियत्व दोनों परस्पराश्रित व्यापक सत्य को बतलाने वाले हैं। इसीलिये जिन तीर्थंकरों का क्षत्रियत्व ही लक्षण है।

समय—

शिशिर काल व्यतीत हो चुका था। ठंड का अन्त हो चुका था। आकाश स्वच्छ, सुन्दर और सुहावना नजर आ रहा था। खेचर में बिना किसी दखल के स्वतंत्र रूप से अपने मद में मदमाते हुए पंछी वगैरा उड़ते हुए विचर रहे थे। अनुकूल समय पाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा रहे थे। उस समय आकाश जलदाच्छन्न या धुलिधूसरित

हो प्राणि जगत को किसी प्रकार की बाधा—रुकावट नहीं पहुंचाता था। उस वक्त न तो कुहरा ही था और न बादल या आंधी ही। आकाश स्वाभाविक कांति को धारण किये हुए था। न दिन बड़ा होता था न रात। इसी तरह सूर्याताप भी इतना क्लिष्टकार नहीं था। ग्रीष्मातप अभी प्रारम्भ नहीं हुआ था, अतः सुहावना और सुखकर था।

श्याम-वर्ण आकाश में ग्रह तारागण और चन्द्र भी रात्रि में अत्यधिक प्रकाशित होते हुए दिखाई देते थे। उनके सुखद विहार में एक प्रकार मधु व्याप्त था जो कि पृथ्वी को मदोन्मत बनाने में बड़ा सहारा देता था। वासन्ती रात्रियां बडी सुरम्य और मनोमुग्धकारी होती थी। सब रात्रि की सामग्रियाँ अपनी स्वाभाविक सौम्यता मे विशेष खिल रही थी।

दिन के प्रारम्भिक काल का कहना ही क्या? सूर्य अपनी किरणों को जलधरों के गर्भ में छिपाये नहीं निकलता था, न उसकी किरणों में तीखापन ही था। सूर्य का मध्याह्न भी सुरुचिकर था। ग्रीष्म के क्लिष्ट आताप की बू भी नहीं थी।

रात्रि को आकाश गंगा मानों साक्षात अपने श्वेत पय को लिये तारा‌ग्रह रूप फेनिल से सुशोभित हो रही थी। स्पष्ट आकृति द्वारा मानवों को पुलकित कर रही थी। स्वच्छाभ नभ था।

इसी तरह संध्या काल में सुमधुर कलरव करती हुई श्वेत पक्षधारी बक और हंस की पंक्तियां नजर आ रही

थी। जिधर आकाश पर दृष्टि डालते यही दिखता था, मानों, आकाश स्वयं उन्मत होकर सब को मस्त बना रहा था। नभ अपनी नीलाभमय शुद्ध छत्ते से पृथ्वीं पर मधु का छिटकार कर रहा था। जिसका पान कर सांसरिक कीटाणु उन्मत में हो रहे थे।

जहां आकाश का यह हाल था वहां पृथ्वी का कहना ही क्या ? सर्वत्र हरहरित-हरी ही नजर आती थी। जो दिन पहिले सुखे ठूंढ से खड़े थे वे इस काल को पाकर हरे और उन्मत से डोल रहे थे। नदिया अपने स्वच्छ जल और सुरम्य लहरों में लहलहरित हो रही थी। अब उनमें कहीं पर भी बर्फ या बाढ़ का समागम नहीं होता था। उनकी उन्मत्ता दूसरे दर्शकों को प्रमत्त बनाती थी। उनकी धीमी और सुमधुर ध्वनि वाली गति, हिलोरे वाला प्रवाह, आस-पास का हरित फूल और फूलों पर जडे हुए प्रस्तर श्रेणी पर होने वाले आमोद-प्रमोद हर हरित उद्यानकुंज चन्द्र, सूर्य आदि ग्रहों को सहस्रशः करने वाला जल प्रवाह और उनकी छबि मन को हरण करने में विशेप भाग ले रहे थे। कहीं कहीं सौन्दर्य-प्रेमी-जनों को अपनी गोदी में लेकर हिलोरे रूप हिंडोले में भूला रही थी। नावों के सहारे जल विहार का आनन्द लुटा रही थी। इसी तरह सरोवर, ताल तलैया आदि कुमुदिनी और पद्माच्छन्न हो रहें थे। कहीं कहीं श्वेत बक और जलचर जल में किलोले कर रहे थे। विकसित कमल मानव-मानस को विकसित कर रहे थे। सर्वदेशीय सौन्दर्य पृथ्वी गर्भ को विशेष उज्ज्वल कर रहा था।

पर्वत मालाओं के चन्दनादि सुगन्धित वृक्षों के हरे भरे

हो जाने से वहां की शुद्ध और परिष्कृत पवित्र सुगन्धित सुरभि और सुरभि-वाहक-हवा लोगों को विशेष प्रमोद से गाने खिला रही थी। कुन्जें और बगीचे अपने ऐश्वर्य से पूर्ण हो आमोद प्रमोद के क्रीडा-स्थल बन रहे थे। कोकिला अपने सुहाग वसंत को पाकर फूली नहीं समाती थी। वह डाली डाली 'कुहु कुहु' करती हुई वृक्ष लताओं को मधुर बोली से मस्त भुमाती थी। कल्प वृक्ष-आम्र वृक्ष अपने अमृत मय फलों के रस द्वारा मनुष्य जाति को पुष्ट और सशक्त बना रहे थे। भ्रमर श्यामवर्णी हरियाली पर अपने अनुकूल समय पाकर सुगंधित पुष्पों की कली कली और फूल फूल पर भृंगार करते हुए मधु संचय कर रहे थे। इसी भांति सारी मानव जाति भी आमोद-प्रमोद में अपने दिन काट रही थी।

समय वसन्त काल का था। यों तो वसन्त काल ही सर्व मानवों और प्रकृतिज पदार्थों को निष्फिक्र और आनन्दित बना रहा था फिर वसन्त के यौवन का तो पूछना ही क्या ?

जब से महावीर का आगमन इस रमणि गर्भ में हुआ तभी से धन-धान्य से परिपूर्ण भू नजर आती थी ! पीछे से शायद इसी कारण 'वर्धमान' नाम विख्यात हुआ। निकट-वर्ती कुटुम्बीजन कितने ही कल्पित विचार कर रहे थे। सब दिव्य प्रभा को देखने के उत्सुक थे।

सुसुप्त मानवों का उद्बोधक काल था। वसन्त के यौवन-कालिय प्रातःकाल का आवागमन था। जिधर दृष्टिपात करते उधर आमोद-प्रमोद के अतिरिक्त शेष जड़

पदार्थ ही दिखते थे। जिनको कुछ चैतन्य शक्ति की अभि-व्यक्ति थी वे सभी तेज की आकांक्षा में उल्लसित हो रहे थे।

वसन्त युवती चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का दिन था। रात्रि अर्द्ध व्यतीत हो चुकी थी। देवता हर्ष से फूले न समाये। नारकीय क्षण भर के लिए शान्त हो गये और क्षणिक शांति का अनुभव करने लगे। पशुओं ने घास छोडा। बच्चों ने दूध छोडा। व्यापारियों ने व्यापार बन्द किया। राज्य कारभारियों को स्वकीय कार्यों से विश्रांति मिली। अन्य मानव ज्यों के त्यों खडे हो गये। पशु चलते फिरते ठहर गये। पक्षी उडते हुए रुक गये। चलते हुए रथ आदि यानों, बैलों और अश्वों को विश्रांति मिली। कारीगरों के हाथ रूक गये। चिड़ियों का चहकना बन्द हुआ। शोर हल्ला न मालूम कहाँ हवा हो गये? कहीं चीख भी नहीं थी।

दुष्टों को ऐस समय में भय लगने लगा। ज्योतिषी विस्मित हुए। वैज्ञानिक शंकित हुए। पापी डरने लगे। निशाचर भगने लगे। चोर छिपने लगे। व्याभिचारियों की भौंहे ऊँची चढी। वृक्ष हिलते हुए, नदियां बहती हुई, फूल खिलते हुए, पौधे बढ़ते हुए, भ्रमर मधु संचय करते हुए, निर्जीव से खड़े हो गये। प्रकृति बिलकुल निस्तब्ध थी। सारी पृथ्वी क्षण भर के लिए शान्त बन गई।

वह समय क्या था—

एक अमूल्य वक्त था। बेजानों की जान था। दर्दियों की आवाज को सुनने वाला, अनाथों का रक्षक और

कुकर्मियों का भक्षक था। वीरों का उद्बोधक और धीरों का उत्साह बढाने वाला था। धर्मधूरिणों और पुण्यात्माओं का आकर्षक, प्रथदर्शक और भ्रांति भेदक था। विस्मृतों को स्मरण और अचेतों को सुध दिलाने वाला था। संसार की अनन्त उद्दाम कामनाओं—वासनाओं के शिकारी प्रबल तेज-पुञ्जधारी, वीरता के पुजारी, शक्तिधारी अघमलहारी, धर्म ध्वजधारी, कर्म प्रहारी अरिहन्त भगवान महावीर का इस भूमि पर पदार्पण करने का था।

इस क्षण में क्या हुआ और क्यों हुआ ? ऐसे विचार करते हुए दूसरे क्षण के लिए फिर सब प्राणी विस्मित हो गये कोई कहता पृथ्वी पर भारी आपत्ति आई। कोई कहता पृथ्वी पर किसी वीर का जन्म हुआ। कोई इतना भी बोल देता—पृथ्वी का भार उतारने के लिये दिव्य तेज पुञ्जधारी विभूति का अवतरण हुआ है—जन्म हुआ है। कोई संसार के प्रलय की कल्पना कर रहे थे। बहुत से अपना अन्त समझ कर भयभीत हो रहे थे। पर असली भेद कुछ लोग ही पा सके थे। और लाभ भी वे ही ले सके थे।

इन्द्रागमन—

इन्द्रासन कंपित हुआ। इन्द्र विस्मित हो आसन से नीचे उतरा। क्षण भर शान्त ध्यानस्थ हुआ। ध्यान में पता पाया कि अन्तिम तीर्थंकर वीर प्रभु का इस समय मानवदेह में अवतरण हुआ है—अवतार हुआ है। चट से-दर्शन के लोभी देवगण देवांगनाओं सहित प्रभु के चरण पंकजों के दर्शन करने के लिये पृथ्वी पर आ पहुचे। चक्षु तृप्ति कर उत्सवादि मनाये। मेरु पर्वत पर ले जाकर स्नानादि कृत्य

और अन्य सजातीय उत्सवों द्वारा जन्मोत्सव को अलंकृत कर माता की अवस्वाप्नी निद्रा को दूर करते हुए गोद में ला रखे। सर्व कल्याणकारी महोत्सव के करने के पश्चात देव देवी अपने यथेच्छ स्थानों को चले गये।

जन्मोत्सव—

इन्द्रादि के जन्म महोत्सव करने पर हर्षित हुए नृपति सिद्धार्थ ने हर्षोत्सव मनाने की आज्ञा दी। मंत्री और अनुचरों ने आदेश का पालन किया।

शहर भर में डौंडी पिटवाई गई। वंदनवारें और पताकाएं लटकाई गई। मंडप वितान आदि रचाये गये। चौराहे सजाये गये। घरों पर पुष्पाहार और बेल पत्रिकाएं बांधी गई। जितनी भी मंगल मय सामग्रियां मिल सकी, जुटाई गई।

वाद्य—गीत नृत्य आदि के सुखद और सुरुचिकर शब्द उल्लास और हर्ष की वृद्धि कर रहे थे। बाँदीगण अपने दातार से दान प्राप्त करने के लिये उत्सुक थे। भिक्षुक द्वार पर खडे थे। चौराहे और गलियां जन प्रवाह से खचाखच भरी हुई थी। सर्वत्र छोटे छोटे ग्रामों से आये हुए प्रजाजनों की भीड़ मची हुई कि इधर से उधर निकलने को राह भी नहीं थी।

इधर दरबार सजाया गया। उमराव, सरदार, भाई कामदार आदि अपने स्थान पर डटकर बैठे हुए थे, चारणों के आशीर्वादों की झडियां लग रही थी। नामावलियां सुना रहे थे, करोडों का दान हुआ। मंगल भोज हुआ। हजारों

बक्षीसें दी। बंदीजन रिहा किये गये। इसी तरह रनिवास में दासियों और बधाई देने वालों की भीड़ लग रही थी। कुंकुम, केसर, दही, दूध आदि द्रव्यों से महल लथपथ हो रहे थे। गायनों से गुञ्जार कर रहे थे। क्या महल, क्या हाट, क्या हवेली, चौराहे, उद्यान आदि तमाम स्थलों पर खुशी की बहार बह रही थी। सारा का सारा शहर प्रफुल्लित हो रहा था।

माता-पिता और कुटुम्बी जनों ने नवजात शिशु के दर्शन किये। उनकी मुखाकृति पर सर्व बलिहार गये। सुन्दर सुगठित और गौर वर्णीय आकृति पर सब मोहित हो गये। शायद सबका मन यही साक्षी पूर रहा था कि भारत का तेजस्वी सूर्य, मनुष्यों का देव, नरपतियों का राजा काल का वैरी, पुण्य और पापों का दुश्मन आर्यों का मुखिया क्षत्रियों का सिरताज, तपस्वियों का तेज, गुणियों का आदर्श वीरों का वीर, मिथ्या क्रियाकाण्डों का द्वेषी, आत्मगवेषी शांति का पुजारी, संसार का एक मात्र ऐश्वर्य शाली किसी महावीर का भव्य जीवों के कल्याण के लिये यह शरीर प्रकट हुआ है।

वर्धमान–नामकरण—

महावीर के कुछेक कार्य सर्व प्रथम सब से निराले मिले। अपनी प्रगति के साथ कार्य साधनाएं ही प्रगतिशील बन जाती हैं। जब से वीर गर्भवास में आये तभी से ऐश्वर्य, धन धान्य आदि साधनों से सिद्धार्थ परिपूर्ण होने लगे, वृद्धि पाने लगे। एक छोटे गांव के ठाकुर राजा के यहां महावीर का जन्म कोई स्मृद्धिशाली नहीं था। लेकिन पूर्व संचित पुण्य

ही के लिये हर तरह के साधन तैयार कर देते हैं। इसी तरह वर्धमान-गुण के धारेक गर्भ में आने के पहले प्रारंभ से ही राज्य और राज्य की मान मर्य्यादा में वृद्धि होने लग गई थी। वृद्धि की तमाम साम्ग्रियां प्रसन्नता और सोख्य को बढा रही थी। गुणों की ओर ऐश्वर्यों की वृद्धि यानी वर्धमान गुण की मुख्यता से उनके माता-पिता ने उनका नाम 'वर्धमान' रखा।

बाल—महावीर—

शैशव काल में वीरत्व के लक्षण :—

संसार का उत्पत्ति काल कितना मनोहर एवं मन मोहक और मनोमुग्धकारी होता है कि प्राणी मात्र इस दृश्य के लिये लालायित रहता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रातः कालोद्भव (बाल रवि) और बालेन्दु की दर्शनेच्छुक सारी दुनिया दर्शन कर ही शान्त होती है। उसी तरह पुत्रोत्पत्ति काल में मानव-समाज के सम्बन्धी स्वजन प्रसन्न-मुख होते हैं और आनन्दोत्सव मनाते हैं। महावीर का उत्पत्ति काल अनन्त सूर्य रश्मियों का उद्भव काल है। जगत के प्रगति काल का प्रारंभ है।

उत्पत्ति काल से महावीर सब के (शिशु रूप में) मन मोहक बन रहे थे। उन्नत दिव्य प्रभाव वाले मुख की छटा किसके चित्त का हरण नहीं करती। दास-दासी, स्वजन और कुटुम्बी परिवार के लोगों ने उन्हें हाथों हाथ पलते पोषते बड़े किये।

इसी तरह से उनका पालन पोषण हुआ कि एक हाथ से दूसरे हाथ जाते जाते दिन व्यतीत हो जाता था।

महावीर सबके हृदय का विधाता था। उसने सब के हृदयों में जगह करली और अपने अनुकूल सब परिस्थितियां तैयार करली।

जहां सामान्य बालक भी बैठना, घुटने के बल चलना खड़े होना, देहरी के बाहर जाना, पैरों से ठुमक ठुमक दौड़ना, धम से गिर पड़ना, चन्द्र दर्शन करना आदि क्रियाओं द्वारा अपने मां बाप और स्वजनों को हंस मुख वृत्ति से प्रमुदित करता रहता है। भला, महावीर प्रभु का तो कहना ही क्या? उनकी हरएक हरएक हरकत में एक अजीब खूबी नजर आती थी। ये विशेषताएं उनके पार्श्व रक्षकों को और माता पिता को ही मालूम होती थी। वे उन विशेषताओं को देखकर अधिक से अधिक प्रेम के पुजारी बनते जाते थे।

महलों के भिन्न भिन्न भागों और कमरों में लगी हुई सिंह आदि की तस्वीरों, चित्रपटों और भयंकर से भयंकर चित्रों को प्रेम से देखते और छूते थे। स्पर्श करते और देखते समय मानों उनको प्रेम दृष्टि दे उन पर प्रेम वर्षा कर निस्तब्ध बना दिये हो ऐसे दिखते थे। वे कांच के महलों में अपनी मुखाकृति घंटों तक देखा करते थे। कभी कभी अपने सरीखे अनेकों बालकों को कांच में देख कर पकड़ने के लिये इत उत दौडते थे। इस तरह गिरते-पड़ते अनेक वीरत्व सूचक प्रवृत्तियों से पारदर्शी लोगों को आकर्षित करते रहे।

धीरे धीरे वे चलने लगे और बाहर दौड कर जाने लगे, खेलने कूदने लगे। अब तो वर्धमान की शैतानी का कहना

ही क्या ? उन्होंने प्रथम अपनी बुद्धि से सर्व बालकों में प्रमुख पद प्राप्त किया और वालकों के बीच 'वाल-वीर' के तरीके मे रहने लगे। प्रभुत्वपने मे सब बालकों में भाग लेने लगे।

प्रथम तो राज का कुमार और फिर प्रमुख वीरत्व का पूतला यह सोने में सुगन्ध का काम दे रहा था। इस समय उन्होंने अपने सहचरों-बालचरों का प्रमुख पता ही नहीं किया बल्कि उनके शिक्षक बन गये थे। सब एक साथ दिन भर खेलते थे। खेलना ही उनके सारे दिन की दिन चर्य्या थी। निष्फिक्र बालवय में खाना-पीना और खूब खेलना यही इस उम्र का खास ध्येय रहता है। वर्धमान इसी ध्येय को आगे रख कर उनकी विशिष्टता की छाप उनके साथियों पर लगाते थे। सखे भी वहुत थे। खेल भी व्यवस्थित ढंग से होते थे। वर्धमान की खूवी प्रत्येक खेल में अधिक रस-पद और चित्ताकर्षक होती थी जिसमें सब साथी प्रेम से हर एक खेल के अन्त तक बने रहते थे।

'महावीर' की उपाधि

अपनी नगरी के निकट के उपवन में एकदा बाल—वीर अपने सखाओं के संग खेल रहे थे। खेलते-खेलते ,उनका खेल 'कमल डाल' रूप में परिवर्तित हुआ। 'कमल डाल' के खेल में वृक्ष पर चढ़ने की आवश्यक्ता होती है। एक लड़का एक लकड़ी को,गोल घेरे में खड़ा होकर अपनी टाँग के नीचे घुमा कर दूर फेंक देता है। इस तरह यहां पर भी ऐसा ही हुआ। लकड़ी के फेंके जाने पर सब लड़के वृक्ष पर चढने के लिये दौड़ पड़े। वृक्ष के तले सर्प रहता था। वह बड़ा भयंकर भुजंग था। बालक पेड़ पर चढने के लिये इतने जल्दी से भगे कि उस सर्प का कुछ भी ख्याल नहीं रहा। नजदीक पहुँचते ही सर्प ने फूंकार मारी। बच्चे डरे और भागे। यह सब दृश्य वर्धमान ने अपनी आँखों से देखा। देखते ही वे उस भयानक सर्प की ओर झपट पड़े। बिना भय के उसके निकट पहुँच कर मुष्ठी में दबा कर मजबूती से पकड़ कर दूर फेंक दिया। इस तरह इस विघ्न से छुटकारा पाया, साथ ही सब बालकों को भय से बचा लिया। बालकों को आवाज दे कर बाल—वीर ने वापस बुला लिया। फिर पहिले की तरह खेल आरम्भ कर दिया गया। यही बाल-वीरत्व और निर्भयत्व में, चूहिया से डरने वाले और होआ से हिलने वाले बालक, वीर बालक की क्या होड करेंगे? 'बाबा आया सोजा शब्दों' को

सुनकर भयभीत होने वाले बच्चे सर्प जैसी भयंकर वस्तु को कैसे पकड़ सकते हैं? पकड़ना तो दूर किनारा पर उसे उस रूप में देख कर चिल्लाकर भग जाना ही—प्राण बचाना ही सूझता है। वीर की अपूर्व सूझ और कुशलता से सब के जी में जी आया।

द्वितीय खेल—

एक दिन राजद्वार के चौराहे पर घुड़सवारी का खेल कर रहे थे। जो बालक जीत में होता वह दूसरे बालक की पीठ पर जा बैठता था। बाल-वीर की भी जीत की बारी आई। वे भी एक लड़के की पीठ पर बैठे। लेकिन बैठते ही वह लड़का एकाएक बड़ा राक्षस सा बन गया। लड़के इसी लीलामय काम को देख कर ऐसे भगे मानों सर्प काँचली छोड़कर भागता हो। बाल-वीर ने अपने पैर के अंगूठे से उसे ऐसा दबाया कि वह बिल्कुल छोटा सा हो गया। जब यह दृश्य लड़कों ने देखा तो बड़ा विस्मय किया। बाल-वीर ने सभी को बुलाया लेकिन उनमें से एक भी नहीं आया। जब बाल-वीर ने कहा कि क्यों नहीं आते हो? तो उन्होंने उत्तर दिया कि आप सारे दिन हमें इसी तरह डराया करते हैं, हम आपके साथ नहीं खेलेंगे।

बाल-वीर ने उसका अनुकूल जवाब दिया, कहा कि दोस्त तो मेरे बनते हो और जरा जरा सी बात से दूर भागते हो। आओ, मैंने आप लोगों के लिये ठीक व्यवस्था करली है। सब लड़के फिर इकट्ठे हुए और खेल इसी तरह चलता रहा।

तृतीय खेल में वीरत्व का अपूर्व दिग्दर्शन—

बालक तो बालक ही होते हैं। उन्हें खेलता जितना प्रिय होता है उतना कोई भी कार्य नहीं रुचता। भगवान बाल—वीर से सभी बच्चे कई बार अचम्भित और भयभीत किये गये लेकिन वापस उनके बिना उनका खेल सूना ही दिखता था।

एकदा राजद्वार से आगे एक अच्छे चौराहे पर छूआ—छूत—छूआ—छूत का खेल बड़े दिलचस्पी से खेला जा रहा था। संगी लड़के बारी बारी से एक दूसरे को पकड़ रहे थे। जब वर्धमान की बारी आई। लड़के भगते भगते यथेच्छ स्थान से बड़ी दूरी पर जा निकले। इसी समय एक मदोन्मत्त महा मदमाता भयंकर हाथी उपवन से भगा हुआ वीर—प्रभु की ओर लपका हुआ आया। उस समय हाथी के आने वाले रास्ते पर ही बाल—वीर लड़कों को पकड़ने के लिये दौड़ रहे थे। सब लड़के तो आडे टेढे—जिधर जगह मिली घुस गये। लेकिन वीर को तो उनका पीछा करना था। वे तो सामने ही को दौड़े जा रहे थे। सामने आता हुआ हाथी देखकर बाल—वीर ने उसके सन्मुख जाकर दांतों को बड़ी मजबूती से पकड़ कर सूण्ड द्वारा गण्ड स्थल पर जा बैठे और उस पर अपनी अनन्त बलशाली मुष्ठिका का प्रहार किया। प्रहार से गण्ड-स्थल ढीला हो गया। हाथी चिघाड़ता हुआ जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया। उसका मदन न मालूम कहाँ हवा हो गया। वीर पीठ पर जा विराजे। बाल—वीर को हाथी की सवारी करते हुए देख कर सब बालक लौट पड़े। वे यह दृश्य देखकर खूब विस्मित हुवे।

जो बालक हाथी के पागलपन से डर कर छिप गये थे वे ही अब बाल–वीर का आश्वासन पाकर उससे छेड़–छाड़ करने लगे। बालकों के हृदय अब उत्साह और हर्ष की बधाइयां दे रहे थे। 'जय जय' का नाद करने को उत्साहित कर रहे थे। यह दृश्य वास्तविक रूप से भावी विजय का सूचक है। क्रोध, मान, माया और लोभ का चतुष्पदी चतुर्गुण युक्त बना हुआ कषाय रूपी हाथी को वश में कर वीर–राजा की तरह सवार हो ऊपर चढ़ बैठे। उनके सखा रूपी मुनी उस कषाय हस्ती से छेड़छाड़ करने लगे। यह चारों तीर्थ की स्थापना करने का द्योतक बन गया।

यही भावी तीर्थंकर और अरिहन्त पद का सूचक प्रथम बाल–सरलता का विनोद है—विनोद पूर्ण दृश्य है। वे स्वयं विजेता बन कर दूसरों को निर्भय बनाकर विजय प्राप्त करने का पाठ पढ़ा रहे थे।

इस बाल-वय में न मालूम क्या भरा हुआ है कि जीवन की विशेष घटनाओं का द्योतन यह बाल-जीवन प्रथम ही खेल में दिखा देता है। ऐसा भी देखा जाता है कि बहुत से बालक बालपन में झूठ ही मास्टर बन कर पढने बैठ जाते है—साथियों को पढाते हैं। कुछ मुनि बनकर उपदेश देने लग जाते हैं। कोई तराजू बनाकर धूल तोलते हैं। बहुत सारे राजा बनकर हकूमत चलाते हैं। ये प्रवृतियां सदैव हम दृश्यगत होती हुई देखते हैं। इस तरह भावी कार्यक्रम की सूचना किसी कदर प्रत्येक प्राणी को मिल ही जाती है। यहां पर भी बाल-वीर के भावी कार्यक्रम की सूचना मिल चुकी थी। नगरी के तमाम प्रजाजनों ने इन के वीरत्व भरे कार्य

देखकर इनका नाम 'महावीर' रख दिया। वर्धमान बाल-वीर आज 'महावीर' के नाम से पहिचाने गये और तभी से महावीर नाम से प्रख्यात हो गये।

हाथी पर सवारी किये बाल-महावीर के सभी पार्श्व-वर्ती लोगों ने उनके दर्शन किये। थोड़ी ही देर में सारी नगरी में यह वार्ता हवा की तरह फैल गई। इस कार्य से महावीर की घर-घर में दर-दर में—सड़क-सड़क और चौराहे-चौराहे पर बड़ी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा होने लगी। वीर-बालक की इस वीरता ने सब के हृदयों में 'महावीर' कहलाने का बीज बो दिया था। इस तरह और भी अनेक घटनाएं घटी होंगी जिनका पूर्ण विवरण प्रतीत नहीं होने से देने से लाचार हूँ। इसी कारण वर्णन करने में भी संकोच करना पड़ता है। बाल-वीर बालक के पुरुषार्थ को बताकर अब आगे गति करते हैं। ज्ञान वीर बनने को बढते हैं।

बालवीर की ज्ञान वीरता—

विशेष पुरुष की विशिष्टता हर एक कार्य में झलकती है। उम्र के प्रत्येक भाग में और हरएक चेष्टा में एक अद्भुत शक्ति और सौन्दर्य नजर आता है। महावीर के नाम से सारा देश वाकिफ हो चुका था और सब उनकी बाल क्रीडाओं में वीरत्व का विकास देख चुके थे।

यों तो वीर पांच प्रकार के होते हैं—ज्ञानवीर दानवीर, कर्मवीर, धर्मवीर और युद्धवीर। जिसमें पांचों प्रकार के या उससे कम वीरत्व के लक्षण समय की योग्य परिस्थिति

में अधिक प्रशस्त होते हैं वही महावीर उपाधि से भूषित होता है।

हस्ती, सर्प और राक्षस को वश कर वीरता की कुछ झलक पहले ही बता चुके थे, अब ज्ञान पढ़ने का समय आया। अथवा यों कहूं कि ज्ञान-वीरता बताने का समय निकट आ पहुंचा।

शैशव काल के व्यतीत होने पर अर्थात् खेल क्रीडाओं से जब महावीर अपना शरीर पुष्ट बना कर पढ़ने योग्य बन गये तब पठन-कार्य प्रारंभ करना पड़ा। यों तो आजकल देखते हैं—बाल्य काल में पढ़ाई कराते हुए भी शैशवावस्था में भी दिमागी कार्य लेने में नहीं चूकते हैं। हमको वीर से यही शिक्षा लेनी चाहिये कि पठन कार्य करते हुए भी ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना चाहिये और बाल-विवाह करके उनको शारीरिक, मानसिक और दिमागी शक्ति से हीन नहीं बनाने चाहिये।

पठन-काल जानकर वीर के पिता सिद्धार्थ ने अपने पुत्र को नगरी के श्रेष्ठ गुरु को सुपुर्द कर दिये। गुरुदेव सारे शहर में एक सुज्ञानी थे। अतः उन्होंने इस चलते पुर्जे बाल वीर की कम पहिचान की। पढ़ाते समय गुरुजी ने महावीर को एक अक्षर सिखाया तो चपल वीर ने आगे बहुत से अक्षर लिख-बोल लिये। इस तरह सदैव ही हुआ करता था। कभी कभी गुरुजी को भी बतला दिया करते थे। ऐसी दिमागी क्रियाओं से गुरुजी आश्चर्य मुग्ध हो गये। पहले पठन जंगलों में भिन्न भिन्न आचार्यों की कुटीरों में हुआ करता था। वहाँ गरीब और अमीर एक साथ

बैठकर पढ़ते थे। किसी प्रकार का भेद भाव या ऊँच नीच का विचार उस समय के अध्यापकों को छू भी नहीं सकता था। वे सब बच्चों को एक निगाह से देखते थे। लेकिन ज्ञान वीरता से भय खाते थे। वे महावीर को पढ़ाते नहीं थे। स्वयं उनसे पढ़ते थे। अहा! कितनी विचक्षण बुद्धि! कितना पूर्वसिंचित ज्ञान पुन्ज!! जिसको थोड़ा सा सहारा मिलते ही रवि-कोर-कमल की तरह एकदम विकसित हो आता था। महावीर की ज्ञान वीरता से गुरुजी विचार-विस्मित हो जाते थे। क्या पढ़ाऊँ? कैसे पढ़ाऊं? यह तो मेरे से भी विशेष ज्ञान रखता है।

एक बार किसी प्रश्न से गुरुजी बड़े चक्कर में पड़ रहे थे। इतने में महावीर वहां आ पहुँचे। अपने गुरुजी को चिन्तित पाकर चट से बोल उठे ऐसी चिन्ता में आज आप क्यों उतर रहे हैं देखिये दूसरी ओर क्या था? यह प्रश्न ही नहीं था वरन इसमे कलापूर्ण उत्तर भी समाया हुआ था। वीर ने तो "एक पक्षीय विचारों से ही मनुष्य दुखी होता है और बडे बडे महाभारत भी एक तरफा विचार से ही हो जाते हैं।" ऐसा सोच कर गुरुजी को भी यही उचित मार्ग बताया था। साथ में उनके दिव्य ज्ञान की विशेषता भी झलक रही थी। वाक्य सुनते ही गुरुजी के हृदय और शरीर के रग रग में बिजली सी दौड़ गई। झुके उठ बैठे। विस्मित हुए। चिन्ता दूर हुई। दिल को तसल्ली मिली। यथेच्छ उत्तर पाकर अच्चम्भित हो निहारने लगे मुंह से यही निकला कि—'अहा! कैसा विचित्र और विलक्षण विचक्षण बालक है। क्या यही सरस्वती का पुतला है या विधाता का लेखक अथवा कोई संसार का

अद्वितीय कलाकार है। कैसा समयानुकूल और बनता बैठता जवाब दिया। कोई वाच्छत्रु होता तो अवश्य उसके दांत खट्टे होते। वह एक अलफाज भी बाहर नहीं निकाल सकता। धन्य है इस ज्ञान वीर कला कोविद को।

इतना कहते ही उनका हाथ बालवीर को आशीर्वाद देने को आगे बढ़ा—'चिरंजीव रहो, जिस रहस्यपूर्ण अंकों को समझने में मैं स्वयं असमर्थ हुआ उसको मजाक में ही अपने छोटे से वाक्य द्वारा हल कर दिया। प्रभु से प्रार्थना है कि तेरी दिव्य-ज्ञान चक्षु करोड़ों के लिये हों ताकि यशस्वी बनकर तू अपनी शक्ति संसार के लिये छोड़ सके। हाथ पीठ पर पड़ते ही मुख से निकल पड़ा।

गुरुजी के वाक्य सुनते ही बाल वीर हंस पड़े। इस क्रिया ने गुरुजी को क्रुद्ध बना दिया। बात सिर्फ यही थी कि एक दिन गुरुजी किसी शिष्य के संग नजदीक जंगल में गये थे वहां पर वे बहुत दूर निकल गये। मार्ग भूल कर दूसरे राह चले गये। चलते हुए एक यज्ञ मंदिर के पास जा पहुंचे पर दोनों की दिशाएं अलग अलग थी अर्थात् एक पूर्व की तरफ से खिड़की वाले रास्ते से गया और दूसरा पश्चिम के ओर के रास्ते से जा निकला था। इसी कारण दोनों में विवाद छिड़ गया। गुरुजी कहते मन्दिर के खिड़की है और शिष्य कहता द्वार है। इस तरह दोनों की विषमता का निर्णायक नहीं रहने से गुरुजी विचार में पड़े हुए थे कि दर असल बात क्या थी। ऐसे समय में बाल वीर के कला पूर्ण उत्तर ने कितना काम दिया। गुरुजी ने समझा कि हम दोनों रास्ते में बिछुड गये थे। मैं दूसरे रास्ते से आया और शिष्य अन्य मार्ग से, अतः दोनों में मतभेद हो गया! दो

रास्तों में आने के कारण 'मन्दिर के दो रास्ते थे' यह सिद्ध समझा, अगर हम दोनों हठ पकड़े रहते तो वाग्युद्ध छिड़ जाता और बात बढ़ जाती, यही है बाल वीर की ज्ञान वीरता। गुरुजी इस बालक की प्रथम अनेकान्त मार्ग की निर्देशना की इस अजीब युक्ति से अच्छी तरह से वाकोफ हो गये।

बन्धुओ ! यही वीर की सर्व प्रथम स्याद्वाद की सैद्धान्तिक कथनी थी। प्रेम मार्ग की सरल शब्दावली थी जिसका पान कर गुरुवर्य शान्त और प्रसन्न हुए। आगे गुरुजी के आशीर्वचन के मुआफिक वृहद्रुप में संसार व्यापी कल्याण सरणि का परिचय इसी वाक्य से मिला। भव्य प्राणियों ने उसका पान कर अपना जीवन आदर्श शान्ति प्रिय बना लिया। आज हम जिस सिद्धान्त पर गौरव करते हैं वह वीर बाल की एक हंसी की कथनी मात्र थी। कितना रहस्य उनके हर एक कार्य में भरा हुआ था यह उनके परि-पार्श्वक बन कर ही जान सकते थे। ऐसे वीर-रत्न के लिये कौन नहीं तरसेगा ?

ईश्वर ! आज भी ऐसे वीर की भूखी दुनिया है, ऐसे नर-रत्न की चाह करती है। ऐसे नररत्न के आये बिना इस कल-युग अशान्त-युग का अन्त नहीं होगा।

पढ़ाई पूर्ण नहीं हुई थी। अर्थात् पठन काल समाप्त किये विना ही गुरुजी वीर-बालक को घर लौटाने में अपना कल्याण समझने लगे। थोड़े दिन के अभ्यास में ही गुरुजी उकता गये। समय पाकर गुरुजी वीर को साथ ले पिता को सुपुर्द करने चले। महलों में सिद्धार्थ राजा के सन्मुख

पहुंच कर पुत्र की बुद्धि की बडाइयां की और राजा ने बड़े आदर भाव के साथ सेवा सत्कार द्वारा दक्षिणा अर्पण की। गुरु के अन्तिम वचन ये थे "राजन्! तुम्हारे पुत्र ने मुझ जैसे व्यक्ति को जैसी सुध दिलाई है वैसी ही सर्व संसारी जीवों को यातनाओं से बचाकर संसार का उद्बोधक बनेगा।"

नवयुवक-वीर

बाल्यकाल व्यतीत होते ही युवावस्था के दिन नजदीक आ लगते हैं। नवयौवन के साथ ही शरीर, बुद्धि, बल और मन का भी विकास होने लगता है। यह समय संसार की क्रांति का प्रारम्भिक काल है। नवाभिलाषा, नवाभिराम, नूतन शैली, नवीन ढंग, नया शौर्य और नई प्रभा को ग्रहण करने वाली यही अवस्था है। इस अवस्था में प्राणि अपने विचारों और कार्यों में प्राय: उच्छृंखल सा बन जाता है। हवा की तरह संसार में उड़ना चाहता है—प्रगति करना चाहता है और अपनी शक्ति की परीक्षा करना चाहता है। नव शक्ति से मानव लोक को जन समाज को और कार्य क्षेत्र को रसरंजित करने तथा शौर्य बतलाने को उत्सुक बना रहता है। नव किशलय की सी क्रांतिवाली किशोरावस्था प्राकृतिक सौन्दर्य को विकसित कर मोह की धारा प्रवाहित करती है। वक्त बेवक्त शक्तिधारी और अभिमानी वृद्ध युवकों को मंत्र-मुग्ध सा बना देती है। अहा! यह समय क्या है? संसार के सांसारिक जीवन में पैर देने का या संसार में कमर कस कर तैयार होने का है।

संसार का तेजवान, संसार का वर्द्धमान और जगत का गीयमान यही समय है। इसी काल में वीर्य पुष्ट होकर रग रग में खून उबल पड़ता है तथा उबले हुए खून से दिन दूना

रात चौगुना उत्साह वृद्धिगत होता है। जिस कार्य को प्रारम्भ कर देता है, वह उसी में लीन हो जाता है। अन्त समय तक स्व मार्ग पर डटा रहता है। संसार की किसी भी शक्ति से पराजित नहीं होता। यही जगत के गार्हस्थ्यक धर्म की नींव डालने का समय है।

इसके प्रथम बाल्यकाल में इच्छित गति करते हुए नहीं रुकते थे। आज उन पर संसार के विकट और गहन प्रश्न को हल करने का भार आ पड़ा है। क्या करें ? कुछ करें ! इधर जाय, उधर जाय। यह करें, वह करें, ऐसा करें वैसा करें आदि की कल्पना करने वाला, यही नवयुवक मय नवयूवा काल है। इसी समय में हरएक कार्य की उन्नति हो सकती है। देश, जाति और धर्म के मामलों में जहाँ कमर कस कर यह नवयुवा समूह अड़ जाता है, वहाँ सर्व देशीय शक्तियां उन्नत हो जाती है। अन्य विपक्षी शक्तियां पराजित्त हो दब जाती हैं। लोक समुदाय ने इसका नाम "नवयुवक" रखा है। नवयुवा काल का मानव ही नवयुवक है। यही सृष्टि सौन्दर्य का पुतला है। शक्ति का भण्डार और स्फूर्ति का आधार है। इसलिए इसको नवयुवती का ग्राहक माना है।

महावीर का बाल-काल व्यतीत होने पर यौवनागमन हुआ। शारीरिक और मानसिक शक्तियां प्रबल हो उठी जो बालपन में अविकसित अवस्था में थीं। वे इस समय प्रस्फुटित हो सन्मुख आगई। प्रथम तो बालवीर निष्फिक्र बाल्य-वस्था में ही नादानी के समय ही अपनी कुछ शक्ति का परिचय संसार को दे चुके थे। अब वे शक्ति द्वारा इस यौवन श्री का लाभ किस प्रकार लेते हैं, यही विवेचन करने का है।

गर्भावस्था में ही इनको तीन ज्ञान (मति, श्रुति और अवधि ज्ञान) का प्रकाश प्राप्त हो चुका था, अब उसके आगे प्रगति करने का अवसर प्राप्त हुआ है। महावीर अब नवयुवक वीर बनने जा रहे हैं। शरीर की रचनाकृति और सुडोलपना देखकर किसी युवक या युवती की चक्षु उन पर नहीं पड़ती अर्थात् सर्व मंत्र मुग्ध से टकटकी बांधे महावीर की कांति को देखने में लगे रहते थे।

महावीर सब नवयुवकों के प्रधान थे। युवाओं को विलासिता मे हटाकर सच्चे मार्ग की ओर अग्रसर करने में नवतेज प्रयत्न सफल कर सकते थे। संसार की अनन्त उद्दाम कामनाओं को वश करने में सतत प्रयत्नशील रहने वाले संसार चक्र को बदलने वाले, संसार को अपनी कांति से निस्तेज बनाने वाले और सत्प्रकृति की ओर संसार को आकर्षित करने वाले वीर नवयुवक थे।

महावीर की प्रगतिशील आशायें नवयौवन की तरह आगे आगे पैर दे रही थी। कर्म क्षेत्र में उतरने का समय पाकर महावीर अत्यन्त हर्षित रहने लगे। दिनों-दिन नवीन तेज उनकी दिव्य देह में उबलने लगा। उन्होंने अपने कर्तव्य क्षेत्र को पहिचान लिया। सांसारिक विलासिता को बालपन से ही परख रहे थे। अब अंधकारमय दुनियादारी से वे एक पैर आगे बढ़कर उसकी सूझ दिखाने के दिव्य अवसर को ध्यान में जचा रहे थे। उनके सखा उनकी सबल और जगविमुख गति को देखकर कल्पना के समुद्रों में गोते लगा रहे थे। महावीर का यौवन सिरपर सवार था। उनका चेहरा भव्य और आकर्षित बन चुका था। उनका हृदय गंभीरता और धैर्य का पाया मजबूत कर चुका था। संसार में भ्रमण करने के

रास्ते को पहिचान चुका था। वे थे भी विज्ञानकारी ! दूरंदेशी ! विचक्षण ! फिर उपदेश की भी कोई आवश्यकता नहीं।

जो वीर पुरुष होते हैं वे अपनी प्रतिभा जन्म से ही लेकर आगे पैर धरते हैं। इसी कारण महावीर का यश भी चहुं ओर फैल चुका था। युवक वीर की शक्ति से संसार परिचित हो चुका था। वीर भी अपनी प्राकृतिक सरलता की छाप मानवों पर डाल चुके थे। सब क्षेत्र तैयार हो चुका था। वीरता दिखाने के लिए क्षत्रियता का रण छोड़ने के लिए सेनाएं समरागण भूमि में आ पहुंची। सब प्रकार के दुष्कर्त्तव्यों की हद हो चुकी थी, दुनिया अपने समय में प्रचलित तमाम ढकोसलेवाले पंथों से घबरा चुकी थी। अज्ञदृष्टि मानव अपनी प्रगति को दिनोंदिन बढ़ा रहे थे। ऋषिगण अपने अपने झोली डंडे संभालकर आश्रम वृद्धि में लगे हुए थे। रूढ़ियाँ दुनिया से हटने के बजाय अपना घर जमा रही थी।

यह क्या था ? वीर का परीक्षास्थल था। उसमें अपनी शक्ति द्वारा नवयुवकीय मार्ग में सरलता करने का था। क्षत्रियता का परिचय देकर सत्क्षत्रियता का मार्ग बतलाने का था। वीरत्व को गुण्डेपन से हटाकर सच्चे योद्धापन को बतलाने का था। हिंसक प्रवृत्ति की वीरता को सहनशीलता रूप क्षमा में बदलने का था। सच्ची बहादुरी सहने में है, यह जाहिर करने का था।

द्वन्द्व युद्ध–

इधर वृद्धिगत क्रांति की चिंगारियां वीर युवक के

हृदय में बिजली पैदा कर रही थी। उधर उनके मां बाप का मोहवारि उनकी चिंगारियों को शान्त कर रहा था। अपने नवयुवक पुत्र के संग नवयुवती—वधू के दर्शन की आकांक्षा उनके हृदयों को उत्तेजित और आन्दोलित कर रही थी। संसार के आनन्द और वैभव का सुख लूटता हुआ वीर उनके सन्मुख आवे, इस दृश्य की चाह कर रहे थे। मां बाप की मोहमय दशा और उनकी भव तापघ्न-क्रान्ति दोनों में भयंकर युद्ध छिड़ गया। उनके सखा-सखि उनकी अधिक विलास-प्रियता की सामग्रियाँ जुटाने लगे। वीर युवक भी अपनी शक्ति की परीक्षा करने लगे। इस तरह करते करते बहुत दिन बीत गये। उनके माता पिता बड़ी चिन्ता करने लगे। वे उनको कार्य-क्षेत्र से दूर हटाना नहीं चाहते थे किन्तु सांसारिक वर-वधू-जीवन अपनी आंखों देखना चाहते थे। वे स्वयं अपने को निज का उद्धारक ही मानते थे।

वाग्दान के लिए अनेक देशों से दूत आये थे। सबका हृदय वीर की सहयोगिनी अपनी राजकुमारी बने, यह चाहता हुआ प्रयत्नशील रहता था। महावीर कई बार सखा और स्वजनों से शिक्षित किये गये-समझाये गये, भरमाये गये, पर वीर अपने ऐश्वर्य की खोज में लगे हुए थे और उनका ध्यान एक उसी मुक्ति सुन्दरी के लिए आकर्षित हो रहा था, जिसके लिए उनका सारा जीवन अर्पण करना पड़ा। एकबार मा स्वयं अपने दुलारे लाल को ललित लालिमा का लाभ लेने और देने के लिए शिक्षा देने आई। मां की रस भरी मृदु वाणी ने उनके हृदय को चीर दिया। माता के प्रेम भरे कथन का असर उनकी भावी इच्छाओं पर पानी की तरह बह निकला और वे सांसारिक जीवन का

अनुभव करने के लिए अग्रसर हुए, यही है मां का अगाध प्रेम। पुत्र की अनन्य भक्ति का श्रेष्ठतम उदाहरण। और पृथ्वी से भी बड़ी माँ की उच्चत्तम ममता–मोह–स्नेह।

दानवीर की दान वीरता–

यों तो संसार में अनेक जीव अपने भोगोपभोग की सामग्रियों में अपनी संख्यात सम्पत्तियों को बिखेरते हैं। पर जैसा लेना, वैसा देना–की कहावत चरितार्थ करना याद नहीं था। मनुष्य उस युग में बड़े स्वार्थी हो गये थे। शुण्ड मुशुण्ड ऋषियों को भोज देना, दक्षिणा देना, रुपया लूटाना और सर्वस्व अर्पण करना अच्छा समझते थे। गरीब, अंधे, लंगड़े, लूले, कोढी और भीखमंगों को भोजन देना पसन्द नहीं करते थे। अतः सर्वप्रथम गृहस्थ धर्म की उपयोगिता में दान के महत्व को समझाने के लिए–दान देना बतलाने के लिए—द्रव्य का सदुपयोग कराने के लिए— दुखी प्राणियों को अपने सहारे पालने और पलाने के लिए, अभ्यागतों को, अपंगों को, लंगड़ों को, अंधों, भूखों को और जो भी दीन-हीन आया, उन सबको दान देना प्रारम्भ कर दिया।

धन किसी का सगा नहीं है। जमीन, जायदाद और बाहरी सभी ऐश्वर्य भी कोई सम्बन्ध नहीं रखता। सबके सब एक दिन यहीं रह जाने के हैं। मनुष्य अनेक पापमय कृत्य करके इसको एकत्रित करता है या पुण्योदय से अतुलित सम्पत्ति का अधिकारी बनता है। पर उसका कार्य मनुष्यों के अधिकारों को बगुनाह और बिना न्याय के छिनने में ही उपयुक्त होता है न कि उनसे फायदा उठाने के लिए। मनुष्य जब अपने अधिकार को समझ लेता है, तब वह और उसका जीवन दूसरों के लिए हो जाता है।

जीने के लिए खाने वाले विरले हैं। अधिकांश संसारी जीव खाने के लिए जीते हैं। इस तरह वे संसार की विला-सिता के कीट बनकर गृद्ध बन रहे हैं। महावीर ने अपना जीवन दूसरों के लिए ही बनाया था। युवक-वीर की हृदयेच्छा मनुष्य मात्र को दयादान का पाठ सिखाने की थी। अब वे इस कार्य को नित्य प्रति हाथों-हाथ करने लगे। अनेक याचक याचना के लिए दिन उगते ही दूर-दूर से आकर द्वार पर खड़े होते थे। द्वार पर भीड़ भी इतनी होती थी कि महावीर उन्हें बांटने में असमर्थ हो जाते थे। उन्होंने कुल तीन अरब इठयासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान दिया। प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख मुद्राओं का दान होता था। यह दान एक वर्ष तक चलता रहा। इस दान प्रणाली मे मनुष्य दान देना सीखे। भूले हुए दान-मार्ग को याद किया। अपने सम्पर्क में आने वाले प्राणियों पर ध्यान देने लगे। दुखी जनों की रक्षा करने लगे। इस तरह भगवान अपने सांसारिक जीवन में अपना कार्य जैसे तैसे पूरा कर पाये थे। अब उन्हें बन्धन-मुक्त होने का अवसर प्राप्त हो चुका था।

सांसारिक जीवन में संसार समर का दृश्य देख चुके थे। साथ ही पूर्व भव की प्रतिभा थी। इन दोनों के प्रभाव से युवक वीर का हृदय उन्नत बन गया। वीर अपने कार्य क्षेत्र को तैयार पाकर कार्य क्षेत्र में उतरने के लिए उद्दत हैं। साथ में उन्होंने अपने उद्देश्य के सिवाय और कुछ भी नहीं रखा है। उनका उद्देश्य भव्य जीवों को उचित पथ बताकर मुक्ति-लक्ष्मी प्राप्त करने का था।

कारण—

उन्होंने सांसारिक लक्ष्मी की परीक्षा करली थी। वे जगत के क्षणिक सुख का अनुभव कर चुके थे। स्वल्प सुख में अत्यन्त दुख का पता पा चुके थे। पुण्य कृत वैभव को भोग चुके थे। उससे शिक्षा पा चुके थे। उन्होंने भलीभांति समझ लिया था कि यह सब वैभव संसार की उद्दाम कामनाओं में फंसा कर अनन्त की ओर ले जाने वाले हैं। संसार किसी का सगा नहीं है। स्वार्थ और माया ही संसार की उत्पादिकायें हैं। स्वार्थ के भाई को भाई, वहिन को वहिन, गुरु माता को गुरु की माता आदि सम्बन्धों से पुकारते हैं। जब तक अपना काम निकलता रहता है, तब तक सब मेरा तेरा करते रहते हैं। अगर कोई व्यक्ति किसी काम का नहीं होता है, तो उसकी कदर नहीं करते।

उन्होंने देखा कि—सर्वत्र अपना पराया (ममत्व) का बोलवाला है। मेरा-तेरा की पुकार है। पराये की कोई पूछ नहीं। मरो, जीओ अथवा चाहे जो हों, या होता रहे उन्हें सहानुभूति तक बतलाने की जरूरत नहीं। स्वार्थ परामय व्यक्ति यही तो कर सकते हैं।

इसी तरह से यह शरीर भी नाशवान है। एक दिन खाक में मिल जायगा। जब शरीर ही अपना साथ नहीं देता, तो वैभव संसार का कारण भूत है। इसके अतिरिक्त संसार में और कहीं नाम का भी सुख नहीं। वैभव ही सुख है। जन्मते समय व्याधियां, कष्ट झेल कर और मरण काल की गति को पहिचान कर इस संसार जाल में फंसा शेर या बकरियों के साथ पलकर बड़ा हुआ सिंह का बच्चा जब

अपने बल को पहिचान कर जाल को तोड़ने की कोशिश करता है तो अपने तेज और स्वत्व के भान को प्राप्त करने लग जाता है। अपना शौर्य तोल लेता है तब उसे स्वतंत्र होने के सिवाय कोई दूसरा मार्ग दृष्टिगोचर नहीं होता है। गुलामी भी एक आत्म-बंधन का जाल है। निस्तेज बनाने वाली प्रथा है। गुलामी में फंसकर मनुष्य निरा पशु सा और शक्तिहीन हो जाता है। गुलाम देश, जाति और गुलाम नर जब तक गुलामी को नहीं छोड़ेगा, उन्नत नहीं बन सकेगा। 'पराधीन सपनेहु सुख नाहिं' को समझाने वाले महावीर ने संसारी पराधीनता रूप जंजीरों को तोड़ने में ही अपना श्रेय समझा। जब मनुष्य सब प्रकार का अनुभव कर लेता है, तब दुष्ट कृत्यों में उसका चित हट जाता है।

महावीर युवक-वीर, युवा सम्राट आज क्रांति का पुजारी होने का दावा कर रहा है। वह युवक वीर है। उसकी भावना और आशा संसार—समुद्र पर कल्लोलें कर रही हैं। संसार का पारंगामी बनने की इच्छा प्रबल हो उठी है। अब महावीर एक दिन के लिए भी संसार की माया जाल में नहीं फंसेगा। आज ने वह प्रतिज्ञा करता है कि "मैं अकेला वीर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अकेला ही विचरूंगा। शक्ति एकत्रित करने के लिए ध्यानस्थ-मौन रहूंगा। माया से छुटकारा पाने के लिए स्त्री, संतान, भाई आदि स्वजनों को तिलांजलि देकर, गृहस्थ धर्म को छोड़ कर एकान्त विहारी अणगार-धर्म का रक्षक बन सिंह के सदृश्य पराक्रमी बनूंगा। जन्म, मरण और व्याधि से उन्मुक्त होने के लिए कठिन से कठिन परिषह सहूंगा। और मेरी

मुक्ति-सुन्दरी से नाता जोड़ूंगा। भव्य जीवों के हित के लिए आज से मेरा जीवन अर्पण कर दूंगा। जब तक मैं अपनी यथेष्ठ वस्तु को प्राप्त नहीं करूंगा तब तक समय मात्र के लिए भी प्रमादी नहीं बनूगा। दुष्टों की दुष्टता हरूंगा। अज्ञानियों का अज्ञान दूर करूंगा। मैं सर्वत्र अक्षय शांति का प्रचारक बन कर इसी का उपदेश दूंगा।"

"एकान्तवाद का उन्मूलन कर प्रेम का पौधा वपन करूंगा-रोपूंगा। हिंसक-कृत्यों को नष्ट कर, अहिंसक भू बनाऊंगा। जबतक मैं अपने कर्मों को नष्ट न करलूं तब तक शांति नहीं लूंगा। ग्रामों-ग्राम विचरता हुआ किसी पर हाथ चलाना तो दूर रहा, मन से भी बुरा चिंतन नहीं करूंगा। उग्र तपों द्वारा शरीर शोषण और आत्म पोषण करूंगा। मेरा प्राण और धर्म विश्व के लिए होगा। जब तक मैं सांसारिक अत्याचारों को नेस्तनाबूद नहीं कर दूंगा। तब तक जीते जी विश्राम नहीं लूंगा। अन्त में केवलम् प्राप्त कर मोक्ष सुख को लूटने के लिए, सच्चिदानन्द बन जाऊंगा। अक्षय, अमर और अनन्त सुख में लीन हो जाऊंगा।"

वीर–विभूति

अहा ! कितनी कठोर प्रतिज्ञा है। सामान्य जन कभी भी ये प्रतिज्ञाएं नहीं कर सकता। मनुष्य जबतक स्व पर सुधारक नहीं बनेगा तब तक मृतक समान ही रहेगा। संसार में अनेको आते हैं और चले जाते हैं; पर अमर नाम वे ही कर जाते हैं और आदर्श वे ही छोड़ जाते हैं जिनका तन, मन, और प्राण दूसरों के लिये अर्पण हो। संसार का माया जाल ऐसा है कि इसमें बचने या बन्धन–मुक्त होने का सच्चा दावादार कोई वीर असीम शक्तिधर वीर-सिंह ही होगा और उसी सिंह द्वारा यह काम सिद्ध भी हो सकेगा। याद रखिये अब महावीर युवक-वीर नहीं; 'वीर-सिंह' है।

वीर-सिंह

संसारी माया-पींजरे से निकला हुआ सिंह अब स्वतन्त्र हुआ। सिंह ने अपने सिंहत्व को पा लिया। पींजरे का गुलाम गुलामी से दूर हुआ, सनाथ से अनाथ बना, बन्धन से मुक्त हुआ। अब इनके सिर पर कोई बादशाह नहीं, इनको कोई चाह नहीं; न किसी प्रकार की चिन्ता हैं। चिन्ता छोड़कर निश्चिन्त बना। इसके लिये आज संसार के सारे प्राणी भाई और सब स्त्रियां बहनें और माताएं बनी आज अनाथ रक्षक सनाथ विमुख बना। सारी सांसारिक भावनाओं को त्याग कर

सच्चा विरक्त बना, अब संसार में उनका कोई नाता नहीं रहा। संसार निस्सार जचा। अब वह गरज रहित-स्वार्थ रहित मतलब-रहित फक्कड़ फकीर बनने जा रहा है। 'फकीरी में मजा जिसको अमीरी क्या बिचारी है' का अनुभव करने जा रहा है। सारे संसारी वैभव और अभिलाषाओं को तृण समान ठुकरा कर सादी अनन्त प्रवाह की ओर बढ़ता जा रहा है। इसको रोकने की कोई ताकत नहीं। 'किसी दुर्गम पथ पर प्रयाण करने जा रहा है,' यह कोई पूछ नहीं सकता।

वह शेर है। उसे किसी का भय नहीं; न वह किसी त्राता की ही चाह करता है। वह स्वयं त्राता बन कर अभय बनाने जा रहा है। उसकी भावना प्रबल है। प्रतिज्ञा अटल है। मार्ग सफल है। इसलिए जय हैं और सर्वत्र विजय ही विजय है।

आज से महावीर जंगल-जंगल और ग्रामानुग्राम विहरने वाला और सर्वत्र अपना अटल साम्राज्य फैलाने वाला सिंह बनने जा रहा है। ज्ञान और क्रिया अर्थात् कल्पना और पुरुषार्थ की दोनों पांखों से गगन विहारी गरुड बनने जा रहा हैं। साधारण जन से बढ़कर दो पर (ज्ञान–चरित्र) वाला अनन्त की ओर उड़ने वाला, 'जैन' बनने जा रहा है। शक्ति पुतला अपनी ताकत बताने को बढ़ रहा है। सच्चे शौर्य को आजमाने को आगे बढ़ रहा है। दूसरों की शक्ति को जौहर कराने की अपेक्षा अपनी शक्ति का जौहर करने जा रहा है। स्वयं क्षमाशूर बनकर सहनशीलता की परीक्षा देने जा रहा है। सांसारिक कीट बन कर वासना लुब्ध बनने नहीं जा रहा है वरन् कीटों के रक्षार्थ अपने

जीवन-धन को अर्पण करने के लिये उद्यत हो रहा है। आत्मशक्ति को साधने के लिये कमर कसकर संयम रूप अखाड़े में पैर दे रहा है। इन्द्रिय जीत बन कर सच्चा विजेता और कर्म शत्रुओं को हनन कर अरिहन्त बनने जारहा है। अपने अर्थ की सिद्धि के लिये साधक बन कर 'सिद्ध' बनने आ रहा है।

इसके असीम उत्साह,प्रबलबल,अनंत प्रवाह,अपार शक्ति-वैभव, अद्भुत दीप्तिवान तेज अगण्य उमंग और विशाल दृष्टिपथ को रोकने में कोई समर्थ नहीं। अतः वह आज कार्य सिद्धि के लिये प्रतिज्ञा पालन के लिये—

दीक्षाव्रत अङ्गीकार—

करने जा रहा है! अहा! कितना सुरम्य वक्त है। सबके दिल असीम तेज और अदम्य उत्साह की शक्ति को देखकर मुग्ध से हो रहे हैं। स्थान-स्थान पर आशीर्वचन और आशीर्गीत गाये जा रहे हैं। सब मानव प्रफुल्ल हृदय-विकसित वदन महावीर के इस नये प्रवाह को देखने के लिये उद्यत हैं। सर्वत्र अपूर्व आनन्द और उल्लास-लहर लहरित हो रही है। आसपास के लोग भगवान वीर-सिंह का दीक्षा-महोत्सव सुनकर एकत्रित हो रहे हैं।

आज वीर-विभूति अपने प्रवाह को बदलने के लिये तैयार है। देव देवी पृथ्वी पर आ पहुंचे हैं। पाठक और दर्शक नये दृश्य-भाग को सफर कर रहे है। सांसारिक वीर को अब दूसरे रूप में देखने जारहे हैं। राजमहलों, चौराहों, गलियों उद्यान-उपवनों और सर्वत्र द्वार तोरण. बेल पत्रिकाएं

और पताकाएं तैयार कर सजाये गये हैं। वितान ताने गये हैं। मण्डप खड़े किये गये हैं। तमाम हर्षोत्पादक सामग्रियां योग्य स्थान पर रखी गई हैं। योग्य व्यवस्था पूर्वक दौड़ धूप हो रही है। एक मिनिट भी किसी को सुनने और रूकने की फुरसत नहीं।

महावीर को स्नानागार में स्नान कराया गया। महा-सुगंधी तेल, उबटन आदि का मर्दन किया गया। अगर, चन्दन आदि सुरभिदायक गन्धों का लेपन किया गया। दिव्य वस्त्राभूषण पहनाये गये। शरीर सम्पूर्णतया सजाया गया। पुष्पहारों और सुगंधित जलदानों से छिटकार लगाया गया। फूल बरसाये गये। हाथी, घोडे, पैदल, रथ, उमराव सरदार, भाई प्रजाजन प्रभृति सजाये गये। सबकी योग्य व्यवस्था कर दी गई!

व्यवस्थित रूप से भगवान वीर की जय ध्वनि और पुष्प वर्षा पूर्वक विमान में विराजने पर विमान के चहुं ओर देवता और सेना सहित परिवार के लोग क्रमशः पंक्तिबद्ध होकर नगर में जुलूस के रूप में निकले।

वाद्य, संगीत और अन्य वाजित्रों के आवाज नगर के कोने कोने में गुञ्जार कर रही थी। मानवों के जयनाद के शब्द आकाश को चीर रहे थे। भेरियों के नाद नभ भेद रहे थे। हाथियों की चिंघाड़ पृथ्वी धूजा रही थी। सर्वत्र उत्साह था। उमंगे आगे बढ़ रही थी। पृथ्वी पर चलने वाले सैनिक वीरों से पृथ्वी कांप रही थी। पाद चलित धूलि ने आकाश मे कुहराम मचा रखा था। मानव समूह एक दूसरे के निकट

इस तरह सटे हुए थे कि कहीं निकलने को स्थान भी नहीं था। विमान के चारों ओर चंवर ढुल रहे थे। ऊपर पुष्प वर्षा भी उत्सव की शोभा अधिक बढा रही थी।

नगरी सब के सामानों में सुसज्जित शोभायमान हो रही थी। हाट हवेली बाजार महल आदि सबके मालिक प्रमुदित हो विमान की ओर झुके हुए थे। उनका आशी-र्वक्तियां हृदय में साक्षी पूर रही थी। विशाल मानव-मेदिनी नगर में घूम कर बाहर ज्ञात नामक उद्यान बगीचे में आ ठहरी।

अहा ! कैसा अलौकिक-अद्भुत समय है ? अभी अभी महावीर विमान से बाहर उतरे ही थे कि लोगों और देव देवेन्द्रों ने गगन भेदी जयनाद किया। नाद से गुञ्जार करता हुआ वायुवेग पृथ्वी में फैल गया। पुष्प वृष्टि ने पृथ्वी को सुमना—सुमनमयी बनादी। महावीर सभी के सम्मुख आ खड़े हुए। देव देवेन्द्रों और मानवों ने एक बार फिर भगवान वीरसिंह का दर्शन कर अपनी नेत्र—प्यास को तृप्त की। भगवान के दिव्य रूप का दर्शन पा मानव वृन्द आनन्द के झोंकों में झुलस गये।

वस्त्रादि आभूषण उतार कर दूर किये। शरीर को निर्वसन करके 'पंच-मुष्टिलोच' प्रारम्भ किया। वीर की शक्ति का यह प्रथम दृश्य था। क्या ताकत मनुष्य अपने सिर के बालों को सिर्फ पांच बार मुट्ठियों में पकड़ कर एक साथ उखाड़ कर दूर करदे। हमारी देह हमें इतना प्यारी लगती है कि जरासा तिनका चुभने पर हम 'सुस्र' 'सुस्र'

करने लगते हैं भला,बालों को उखाड़ना तो कुछ काम रखता है। धन्य है,वीर कृत्य को और उसके प्रथम दिग्दर्शन को!! लोक समूह एक साथ बोल उठे। उस समय मानवों के दिलों में ऐसे सुकुमार युवक को लोच करते समय क्या साक्षी पूरी जा रही थी—यह उस समय को देखे ही बनता था।

महावीर कोई नन्हा सा छोकरा नहीं था—वह वीरसिंह बन चुका था। फिर इतने कष्ट से डर जाना उसके लिये वीरत्व का सूचक नहीं था। वीरसिंह ने साक्षी पूर दी है कि 'मैं कष्टों को वहन करने में समर्थ हूँ। मैं डरपोक और भीरु नहीं हूँ। मेरा त्याग आपके लिये अनुकरणीय है—मेरा कार्य दर्शनीय है। यह संसारी—वैभव, जिसे उतार कर दूर रखा है—माया जाल है। इससे विरक्त बनकर संसार यातना से बचो।'

लोक—समूह यह दृश्य देखकर अवाक हो गये थे। महावीर को दीक्षा लेते देखकर चिरपरिचय के वियोग से उनके नेत्रों से अश्रुधार बह चली। सब के सब एक दूसरे के मुंह की तरफ निहारते रह गये।

देखते ही देखते भगवान वीर—प्रभु ने दीक्षाव्रत निग्रन्थ धर्म ग्रहण करने का पाठ उच्चारण किया। लोक समूह सुनते ही निस्तब्ध हो गया। महावीर ने दीक्षा लेकर-वेष परिवर्तन कर तमाम प्रजाजनों को दर्शन दिये। सब के चेहरे उतरे हुए देख कर वीरसिंह ने देशित किया—

'मैं मेरे भव-ताप को नाश करने के लिये जा रहा हूं। मैं स्वयं उद्धार कर दूसरों की सेवा करने जा रहा हूं।

आपको चाहिए कि आप भी इस कार्य में सहयोगी बनें। कारण, मनुष्य जन्म लेकर अपने स्वार्थ के हेतु अनेक पुण्य-पाप मय कृत्य कर कोरे हाथ इस जग से लौट जाना है। अतः सबको जरूरी है कि अपने संसर्ग में रहे हुए कुमार्गगामी भ्राताओं को सच्चा रास्ता दिखाकर इस दुख से मुक्त करे। ऐसे कृत्य कर संसार को शिक्षित बनाने के लिये अपना आदर्श चहुं दिशा में छोड़ जाना चाहिए। गीदड़ों की तरह झूठन चाटते रहने की अपेक्षा सिंह बनकर विचरना ही वीरों का मार्ग है। उस मार्ग को अपना कर मैं संसारी भ्रम और शर्म से परे रहूंगा अनन्त कल्पना सागर में गोते खाता हुआ ज्ञान, दर्शन और चरित्र रूप त्रिरत्नों (रत्न-त्रय) की खोज करूंगा। अन्त में मुक्ति सुन्दरी से सम्बन्ध कर लूंगा। अतः मेरे प्रिय जनों ! आप मुझे आशीर्वाद दें कि मैं अपने यथेष्ठ कार्य करने में सफल बनूं।'

पार्श्वभाग में खड़े अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दीवर्द्धन को महावीर ने अश्रु बहाते देखा तो वीरसिंह ने गर्ज कर कहा— "भाई! अब छली माया का साथ छोड़ो। ममता से दूर भगो। इसने सब संसार पर साम्राज्य फैला रखा है पर मेरा साम्राज्य उसी की सत्ता पर है अतः अब मैं आपके कहने में नहीं आऊगा। भ्राता ! सुनो, एक दिन का काम नहीं है। यह सर्वश्रेष्ठ कार्य का मार्ग बहुत कठिन है इसके लिये मैं ही योग्य हूँ। आपके लिए यह प्रजा मुंह ताके खड़ी है इसकी प्रतिपालना करो। संसार में शांति का साम्राज्य फैलाओ। इनकी अभिलाषाओं को पूरो। जहां तक हो स्वार्थ-मय दुनियादारी से बचो। अब आपके अश्रु मुझे डरपोक नहीं बना सकते। इतने मात्र से ही आप अपने कर्त्तव्य को

समझ लें और कर्त्तव्य क्षेत्र में जाकर अपना शांति रस सिचन करें।"

इस तरह महावीर संसारी ममता से दूर हुए। कार्य क्षेत्र में कमर कसकर उतर पड़े अब तक वह इसके लिये घबरा रहा था वही कार्य अपने हाथ में ले लिया। वीरसिंह इस जंगल से छलांग मार कर बाहर निकला। देखा, चहुँ ओर अंधकाराच्छन्न तिमिर अपना असर फैला रहा था। उस अंधकार के कारण दुश्चरण दुष्ट अपना काम कर रहे थे। थोड़ी ही देर में वे तीसरे पाये पर पहुंचे और अपना स्थान पाकर स्थित खड़े रहे। सोचने लगे या ध्यान धरने लगे, यह वे ही जानें। अत्यल्प समय पश्चात् अपना पैर आगे बढ़ाया तो आनन्ददायक मानसिक गति को एक निश्चित वन में जाते हुए देखा और देखने-देखते आनन्द सागर में मग्न हो गये।

महावीर वीर-सिंह की स्वर्ण परीक्षा

वीर-वर सिंह ने अपना आदर्श संसार के प्राणियों के लिये छोड़ जाने के हेतु तथा स्वकृत कर्मों को भोगने के लिये आज आगे पंर बढ़ाया है।

अब वीर-सिंह को एक क्षण भर भी फुरसत लेने की नहीं है। वह अपने आने हुए तापों को झेलने के लिये और संसार को खरे स्वर्ण की पहिचान कराने के लिये, एक से एक बढ़कर तापों को सहने के लिये उतारू हो गये हैं। जैसे स्वर्णकार सच्चे स्वर्ण की परीक्षा करने के लिये उसको अनेक प्रकार के तापों मे तप्त कर कसौटी पर कस कर खरेपन का ज्ञानी बनता है उसी प्रकार महावीर स्वर्ण अपनी कांति से प्राणि-समूह के अनन्य स्वर्णकारों के जीवन को सुधार कर सच्चे-खरेपन की छाप उनके अन्तस्थलों में लगा देते हैं ताकि वे भी उन्हीं की छत्रछाया में पनपें।

तापों के तीव्र प्रयोगों से ही सोने की सचाई का अनु-भव परीक्षक पा सकता है। ठीक इसी तरह महावीर की सचाई का ज्ञान दुनियाई प्राणी भली भाँति जान जायेंगे। सोना स्वयं परीक्षा करता है। स्वयं अग्नि में डाला जाता है। वीर भी स्वयं अपने कर्मों को नाश करने के लिये अपनी शक्ति की परीक्षा देने को ताप-कष्ट मय क्षेत्र में पंर दे रहे हैं।

अब महावीर अपनी असलीयत का आदर्श इन कठोर नापाघातों के सन्मुख कैसा उज्जवल रूप में अपनी सत्कांति मे परीक्षकों को भी चमत्कृत करने में तत्पर होते हैं, वही वर्णन चलता है। अर्थात किम प्रकार महावीर की स्वर्ण परीक्षा होनी है वह हाल बतलाया जाता है।

वनदेवी—ताप— ※

महावीर ने ध्यान खोल कर ज्ञात उपवन से आगे विहार किया। आगे चल कर वे एक अरण्य की ओर झुके और वही निर्जन और निःशब्द मयी भूमि में ध्यानस्थ हो खड़े रहे।

महावीर की स्वर्णमयी कांति शरीर को प्रभावक बना रही थी। प्रथम कोमलांग और उन पर भी सुगन्धित इत्र और तेल का लेपन किया हुआ था। शरीर भी सुडौल और निर्वसन था। पराक्रमी वीर की मुखाकृति मनुजों के ही नहीं, देवेन्द्रों के भी चित्त को हरण करती थी। ऐसी कांतिवान देह, जिसमें यौवन टपक रहा हो किस युवती का चित हरण नहीं करेगी।

वन-देवियां महावीर की मोहिनी आकृति पर मोहित हो गई। वे महावीर के प्रत्येक भाग में कामोद्दीपक अंग-चेष्टाएं करने लगी। देवियां उन पर न्यौछावर हो गई। वे अपनी आंखों को वीरसिंह की ओर टकटकी लगाकर,

---

※ **वन देवी**—जंगल में रहने वाली ऋषि कुमारी, भीलनी व्यंतरी के प्रयोग में आ सकती है। किसी भी अर्थ से भाव जंचाये जा सकते हैं।

चंचल करने लगी। देवियों को कुछ भी सुध नहीं रही। वे महावीर के चारों तरफ हाथ डालकर नृत्य करने लगी। ज्यों ज्यों नृत्य करती थी, मधुर-झंकार और मन-मोहक-सुरभि उनको और भी मस्त बनाती जाती थी। इस तरह मग्न बनी हुई अपने अंगप्रत्यगों को महावीर के भावों को विचलित करने के लिये प्रदर्शित करने लगी। कंधे पर हाथ रखना, भृकुटि मरोड़ना, मुंह पर हाथ फेरना आदि जो भी उनसे बन सका, वे महावीर के चित को आकर्षित करने लगी।

कैसा हृदयाकर्षक और रसपूर्ण विलासिता का नग्न नृत्य था कि जिसके सन्मुख बड़ा से बड़ा तपस्वी भी क्षण भर के लिये अपने ध्यान को छोड़ कर रसलुब्ध बन जाता। महावीर सत्य ही वीर था। वह वाह्य शरीर का ही नहीं मानसिक यातनाओं को सहन करने में भी योगीश्वर था।

देवियों का कितना मनमोहक अभिनय था। स्त्रियों के सामान्य अंग भी चित को आकर्षित कर लेते हैं तो भला, वन-देवियां, जिनकी आकृतियाँ राजकुमारियों से भी कहीं विशेष द्युतिवान होती हैं और वे उनके सरीखे कांतिवान युवक को ही ढूंढती हैं, जहां दोनों योग मिल जाय, वहां चित को दबाये रखना यह मनुष्य चरित्र से परे की चर्या है।

संसार अपना नग्न अभिनय किस तरह कर रहा है। सामान्य जन तो दर्शनमात्र से ही मुग्ध हो जाता है विलासिता में फंस जाता है। अपने शरीर को भी नष्ट कर उसके पीछे कुत्ते की तरह लगा रहता है वह अपने शरीर और मनको कोडी के भाव बेच देता हैं। यह कितनी मूर्खता

है। महावीर अपनी शक्ति को एकत्रित करने के लिये यह चर्या अपना रहे थे। शक्ति को एकत्रित करने में क्या मजा है? यह वह स्वयं ही जानता है।

अब क्या बना ?

वनदेवियाँ अनेक प्रकार के नग्न अभिनय करके थक गई। फिर भी वीर-सिंह ने उनकी ओर क्षण भर के लिए भी दृष्टि नहीं फैलाई। वे ज्यों के त्यों ध्यानस्थ खड़े रहे। उनको बाह्य नाट्य प्रयोगों का कुछ भी ख्याल नहीं था। वे अगाध आनन्द सागर में गोते लगा रहे थे। मन को एकत्रित करने के लिये वे इसी पथ के पथिक बन रहे थे। मन को एकाग्र किये बिना आत्मदर्शन होना भी कठिन है। देवियाँ निराश हो अपने अपने स्थान पर खड़ी हो गई। पर मुंह से यही कहती गई कि अहो! हमें धिक्कार है! हमने ऐसे योगी महर्षि को बिना कारण यातना पहुँचाई। व्यर्थ ही अपनी शक्ति दिखाकर स्वयं लज्जित हुई। धन्य हैं, ऐसे साधक को! हमें इनके पैरों में लोटना चाहिये और क्षमा मांगनी चाहिये।

अहो! कितना प्रभाव! शक्ति संचय करने में कितना तेज प्राप्त होता है यह इस दृश्य द्वारा जान कर लेना चाहिये। देवियाँ नतमस्तक हुई क्षमा मांग कर स्वयं निश्चित हुई। महावीर के ध्यान भंग करने की राह देखने लगी।

महावीर का ध्यान पूर्ण हुआ। देवियां पैरों पर जा पड़ी। गिड-गिडा कर माफी मांगी। महावीर ने भी उन्हें सदुपदेश देकर अपने पथ को साफ किया। इस तरह वीर

प्रथम परीक्षा में सफल बन कर आगे बढ़ने को कुमार ग्राम की ओर विहार करने के लिये कदम बढ़ाये। कुछ दूर ही जा पाये थे कि दूसरा उपद्रव आ खड़ा हुआ।

मधु-मक्षिका-ताप—

वृक्ष लताओं पर भृंगार करते हुए भृंग और मधु-मक्खियां महावीर के शरीर की सुगन्धी को पाकर वृक्ष लताओं से उनकी ओर मुड़ी। रस लुब्ध मक्षिका-समूह-महावीर पर आ टूटा। मिष्ठान का भूखा शाकभोजी, मिष्ठान को देखकर जिस प्रकार झपटता है उसी प्रकार महावीर पर मक्खियाँ और भंवरे आ बैठे। महावीर के शरीर को काट काट कर छेद युक्त बना दिया। महावीर शांत ही एक जगह खड़े हो गये और उनको पूर्ण रसास्वादन का मौका देने लगे।

एक भ्रमर काटने पर शरीर का भाग सूज जाता है और बहुत दर्द करता है। महावीर की देह ने अनेक भंवरों के डंक सुइयों की तरह सारे शरीर पर चूभते हुए किस तरह सहन किया, यह वीरात्मा ही स्वयं जाने।

उनका सारा शरीर छिद्रयुत बन गया और सूजकर फूल गया। सारी देह से रक्त चूने लगा। बड़ा भारी कष्ट होने लगा। यह कितना हृदयद्रावक दृश्य है? किसका चित इस दृश्य को देखकर नहीं पिघलेगा? वीर के लिये यह यातना क्या कम है?

एक तस्कर को बेतों द्वारा पीटने पर वह किस प्रकार चिल्लाता है यह किसी से छिपा नहीं। अगर कोई मनुष्य

किसी अन्य को एक चपत भी मार दे, तो सामने वाला क्रोधित होकर दूना बदला लेने को तैयार हो जाता है-बने जितना प्रत्याघात पहुंचता है और उसके किये हुए का फल चखाता है। लेकिन भंवरों की इस अनन्त वेदना को सहते हुए वीर-सिंह ज्यों के त्यों क्षमा धारण किये हुए खड़े हैं।

उनकी आंखों मे शान्त रस टपक रहा था। दृष्टि में विकार आने के बदले अमीरस समा रहा था। मुखद और सौम्य मुद्रा मक्खियों पर दया और प्रेम की वर्षा कर रही थी, स्नेह सलिल सिंचन कर रही थी।

यह है, विश्वप्रेम की एक लहर—

जिसमें लहरित हो विश्व प्रेम का पुजारी, अहिंसा का दूत, जीवों को-प्रतिद्वंदियों को बिना कष्ट दिये, बदला लिये शांत मुद्रा, विपक्षी के आघातो को सहन करते हुए वश में कर लेता है। यही एक वशीकरण मंत्र है। आकर्षण शक्ति है। पीटने वाले और निर्दयता पूर्ण व्यवहार करने वाले के प्रति रोष न कर उसकी मार को सहना सामान्य जन का काम नहीं है। मनुष्य अपने स्वार्थान्ध हो दूसरे पुरुष के प्रति घृणा करता है। वक्त पर छोटी मोटी बातों पर लड़ पड़ता है। आप ही सोचिये कि ऐसी प्रकृति वाले मानव बिना अपराध के मार खांय तो उनका चित स्थिर कब रह सकता है ?

बहुत सारे लोग यह कहते हैं 'शठंप्रतिशाठ्यं'' (जैसे को तैसा) का उपयोग महावीर को या अन्य व्यक्तियों को करना ही चाहिये। ऐसा नहीं करता है वह कुछ ही समय

में कुचला जाकर मुर्दा सा बन जायगा। शक्ति ही बल है और उसको दिखाना ही अपना धर्म है। शक्ति का सहना मृत्यु को बुलाना है। ताकत बताने के लिये होती है अगर वह नहीं बताई गई तो हिजड़े और पुरुष में क्या अन्तर है ? पुरुष पुरुषार्थ का पुतला होता है। यदि वह अपना पुरुषार्थ नहीं बतलाता तो वह पुरुष नहीं कहला सकता। उत्तर का प्रत्युत्तर नहीं दिया तो फिर वह शक्ति हीन समझा जायगा। कम से कम स्वत्व की रक्षा के लिये तो जरूर लड़ना चाहिये। जो इतना मात्र भी नहीं करता उसे पृथ्वी पर जीने का अधिकार नहीं। वह जिन्दा भी नहीं रह सकता। कहाँ तो—'शठं प्रतिशाठ्य'' की फिलोसफी और कहाँ प्रेमवाद का सिद्धान्त—इन दोनों में रात दिन का अन्तर है। एक का असर रोब गालिब करना अर्थात् डराना, मारना आदि क्रियाओं द्वारा कार्य लेना वश में करना है। दूसरे का असर 'स्वान्त सुखाय' शान्त हृदय हो स्वयं कार्यरत हो जाता है—वश में हो जाता है। अपने अंतकरण में आनन्द का अनुभव करना और दूसरों को उसका आनन्द लूटाना ही सच्चा सुख और वशीकरण मंत्र है। उसमें किसी के आदेश की आवश्यकता नहीं; न किसी अफसर का डर। दबाव देना प्रेमवाद कभी स्वीकार नहीं कर सकता। दब जाना अधिक पसंद करता है। झुकना पसंद करता है और झुका देता है। कड़क बन कर टूटना पसंद नहीं करता नम्रता, विनय, दया आदि सद्गुणों का आह्वान करना है न कि बर्बरता पाशविकता और निर्दयता को आमंत्रण देता है। यही इन दोनों का मेल और पारस्परिक अन्तर है।

वीर-सिंह अपने पूर्व-कृत-कर्मों की उदयावस्था विपा-

कोदय जानकर सब परिषहों को धैर्यपूर्वक सहन कर रहे थे। परिषहों के सहन करने मे परिषह-कर्ता स्वयं शिक्षित हो जाता है। वीर-सिंह की शान्त वृति देखकर नम्र और विनीत बन जाता है। महावीर को विश्व प्रेम की कसौटी है जिस पर कसे जाने पर खरापन स्पष्ट झलक रहा है।

इस तरह भ्रमर-समूह ने महावीर की देह का सुगन्धित द्रव्य चूस लिया और तृप्त हो आनन्द के साथ गुञ्जार करते हुए अपने छत्ते की ओर जाने लगे परन्तु वे भी इस प्रकार के निर्भय व्यक्ति को देख कर सहम गये। अन्त में महावीर से हार्दिक नम्र चेष्टा कर यथास्थान चले गये।

यह द्वितीय ताप स्वर्ण की परीक्षा करने के लिये-वीर-सिंह की शक्ति को तोलने के लिये-महावीर की कला और खरापन जानने के लिये अबोध प्राणियों द्वारा किया गया। इस परीक्षा में वीर-वर सगुण युक्त ज्यों के त्यों निश्चल रहे। यही है—सच्ची तपस्या, सत्यकार्य परत ध्यान संलग्नता और सत्क्षत्रित !

ध्यान समाप्त करने पर संध्या समय निकट जान कर नजदीक कुमार ग्राम की ओर बढ़े। उस रात्रि को उसी ग्राम के बाहर किसी स्थान में ध्यानस्थ खड़े रहने का विचार निश्चित किया। तत्पश्चात कुमार ग्राम के निकट ही ध्यानस्थ हो खड़े रहे। इस समय भी वीर-प्रभु का ध्यान परीक्षणीय बन गया। वीर-सिंह की परीक्षा का फिर मौका आ गया। कृत कर्मों द्वारा चढ़े हुए मेल को साफ करने का फिर अवसर आ पहुंचा-अन्यायियों को न्याय का बोध बताने के लिये यह ठीक अवसर मिल गया। ❋

गोपताप

संसार के प्रेम साम्राज्य में असीम प्रेमधारा का प्रवाह बहता है और ईर्ष्या, दंभ, कूट नीति का पाया भी स्व अवस्था में मजबूत बना हुआ है। इन दोनों शक्तियों का द्वन्द्व समय समय और स्थान स्थान पर हुआ ही करता है। कभी एक की जय तो कभी दूसरे की विजय होती है। कभी कभी तो जयेच्छा की प्रबल भावना ही ऐसे मौके तैयार करती है। और कभी स्वतः आ गुजरती है। यह तो हुई संसार क्रम की बात। अब हमें जानना चाहिए कि कौन शक्ति किस पर अपना प्रभुत्व जमाकर किस तरह अपना आदर्श जाहिर करती है?

वीर-सिंह आज विजयी शेर है। उसे डर दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं, न रोब गालिब करने की ही जरूरत है। वह स्वतः अपनी शक्ति द्वारा या अपने तेज पुञ्ज द्वारा अथवा यों कहिये कि अपनी आनन्दमय मुख-मुद्रा से आकर्षित कर पराजय स्वीकार करा लेता है। प्रतिद्वन्द्वी जब अपनी तमाम शक्ति आजमाकर थक जाता है तब वह स्वयं ही शान्त हो जाता है। यह है सहनशीलता और सद्वीरता!

अभी दो घड़ी दिन अवशेष है। शाम की वक्त पल-पल को जो रही है। समय पशुओं को छूटे छोडकर घास चराने का है। काम से निवृत्त हो शान्ति प्राप्त करने का है। सारे दिन मेहनत कर थक जाते हैं और बहुत से एक ही खूंटे पर बन्धे हुए या एक ही आसनपर बैठ कर उकता जाते हैं। सब के लिए आराम करने का है; पर महावीर आराम की तलाश कहां करते ? उनके ऊपर विपत्ति के बादल मंडरा रहे थे। उनको बाह्य शत्रुओं का डर न होने पर भी बाह्य-शत्रु अपने आप आ घेरते हैं और विकट परिस्थिति उत्पन्न कर वीर को आन्दोलित करने की कोशिस करते हैं, पर महावीर का आन्दोलन अजब ही प्रकार का है। ऐसे तप-पुञ्ज को धन्य है।

महावीर अभी ध्यानस्थ खड़े हैं। उनको बाह्य चर्य्याओं का कुछ भी पता नहीं। वे तो आंतरिक भावनाओं के अगाध उदधि में रत्न को खोज में लगे हुए थे। उनको बाह्य हलन–चलन से क्या मतलब ?

कुमार ग्राम के कुछ गोप-समूह उसी ओर अपनी गायों को खुली हवा में चराने को लाये। सबके पास दण्ड—लट्ठ थे। दण्डे द्वारा गायों को ताड़न-प्रताड़न कर वश में करते थे। उनके हाथ में लट्ठ देखकर गो—समूह प्रथम ही डरा हुआ था और कभी भी स्वामी के बिना हकाले बाहर निकलने का साहस भी नहीं कर पाता था। आज उनका अहो भाग्य है कि उन्हें खूंठे की घास छुड़ा कर-बन्द मकानों से बाहर जंगल की ओर ले जा रहे हैं।

गायों ने खुला मैदान कभी नहीं देखा था, न खुली हवा

का ही आनन्द लूटा था। आनन्द लूटना तो दूर रहा, कभी हरी दोब भी चरने नहीं दी जाती थी। इतनी पराधीनता का साम्राज्य उन पर फैला हुआ था।

अहो! यह पराधीनता सर्व संसारी जीवों के लिए दुःख-दायी होती है कोई भी प्राणी पराधीन रहना नहीं स्वीकारता। हां, जो मोहताज हैं उनकी बात तो अलग रही। उनको विवश ही गुलाम बनना पड़ता है। गुलामी या पराधीनता शक्ति को क्षय करने वाली प्रथा है। इसके गुलाम बन सहस्त्रों प्राणी शक्तिहीन कठपुतले बन गये हैं। बहुत सारे तो इतनी वाड़ा-बन्दी में रहते हैं कि स्वतंत्र विचार करने में भी पाप समझा है और स्वतंत्र कार्य करना तो वे सीखे ही नहीं।

प्यारे पाठकों! पराधीनता एक बड़ा भारी पाप है। जंजीर में जकड़े हुए रहना अच्छा है। जहर खाकर मरजाना भला है, पर पराधीनता में रहना घातक प्रहार से भी बुरा है। जिसका शरीर पराधीन है उसका मन भी पराधीन हो जाता है, इस तरह से वह आत्मा से भी पतित हो जाता है। जिस देश, जिस जाति और जिस धर्म में ऐसी कल्पनाएँ और व्यवहार प्रचलित है वे सर्वथा गये बीते होंगे और 'पराधीन सपने सुख नाहिं' के अनुयायी वीरता के पुजारी होंगे। इस तरह वाड़ा-बन्दी करने वाले भी विद्रोह को बढ़ाने और निश्शक्त पुतले बनाने के सहयोगी होते हैं अतः सबसे बड़े शिकारी पराधीनता का विस्तार करने वाले होते हैं। मैं कुछ और बात पर चला गया। हां, अब क्या बना कि—

एक गोप जो महावीर के नजदीक की भूमि में गाये चरा रहा था। उसको किसी विस्मृत बात की याद आई और उसने उसे पूरी करने के लिए अपने घर को जाने की इच्छा की। इधर उधर दृष्टि फैलाई तो किसी मानव को (महावीर को) ध्यानस्थ खडा देखा, पर शीघ्रता आवेश में उसने ऐसे ही खड़ा जानकर इस प्रकार कहता हुआ चला गया कि:—

"मैं किसी काम से घर जा रहा हूँ, तुम मेरी 'गायों की रखवाली करना। मैं थोडी देर में घर से लौट आऊंगा।"

महावीर तो अपने ध्यान में मस्त थे। मनंक्य कर न मालूम किस रूप में अनन्त आकाश में उड रहे थे। वे निजानन्द की ओर प्रवृत्ति कर रहे थे। उन्हें बाह्य क्रियाओं से क्या मतलब ? यदि उन्होंने अपने ज्ञान द्वारा जान भी लिया होगा, तो भी वे निश्चल से खड़े रहे।

कारण—

स्वतंत्रता का पुजारी परतंत्रता के अनुयायी क्यों बनावेगा ? जंगली शेर अपने साथियों को पींजरे में क्यों बन्द करेगा ? शक्ति का वीर दूसरों में निर्बलता का अकुंर क्यों कर डालेगा ? खुली हवा में विचरने वाला वाड़ा बन्दी क्यों पसन्द करेगा ? परमार्थ का कर्ता कब स्वार्थ को अपनावेगा ? शांति का भक्त प्रहार रूप हिंसा को क्यों कर आचरेगा ? तथा नित्यानन्दी संसार के चित्रों पर क्यों कर दृष्टि डालेगा ?

अतः—

गायें बिना मालिक या रक्षक के सब तितर बितर हो गई। खुली जगह और हरी दोब देखकर उछल कूद करती हुई बहुत दूर निकल गई। उनका हृदय आज स्वतंत्रता पाकर फूला न समाता था। वे कुछ चरती पर बहुत उछलती कूदती जाती थी। उन्हें अब किसी बन्धन का भास नहीं होता था।

कुछ समय पश्चात ग्वाला उसी स्थान पर आया और चहुं ओर दृष्टि फैलाई तो महावीर के सिवाय किसी चौपाये को वहां नहीं पाया। यह देखकर क्रोधान्ध हो आंखों को लाल कर—हृदय में आवेग लाकर बड़े जोर से जोरदार शब्दों में कहा—

"रे दुष्ट! मेरी गायें कहां हांक दी! क्यों, तुझे मैं नहीं कह गया था? अरे! तूने क्यों संभाल नहीं रखी? मेरी गायें कहां हकाल दी? क्योंरे मुण्ड! तूने मेरी इतनी सी बात नहीं मानी!!" दांत कटकटाता हुआ खड़ा हो गया।

दो एक मिनिट ठहर कर फिर शरीर को कँपायमान करता हुआ और भौंहें मरोड़ता हुआ, हाथ और पैर फटकारता हुआ बोला:—

"रे मूढ! क्या नहीं सुनता है? क्योंरे मानी! अभी तक अपने घमण्ड में ही भूला जा रहा है? मुझको कुछ भी नहीं समझता! ओ गूंगे! बोलता है कि नहीं? देखा, मेरी (हाथों को फैलाकर) इन भुजाओं का बल भी देखा है कि

नहीं ? रे बहरे ? अब भी नहीं सुनता है ?" इतना कहकर फिर ठहर जाता है।

महावीर सब ध्यानस्थ हो सुनते रहे। ज्ञानान्द के मधुर पय का आस्वादन कर रहे थे। वे इस मूढ के भोलेपन पर दया ला रहे थे। साथ ही आनन्द के अनन्त प्रवाह में बहे जा रहे थे। उनको इन शब्दों से क्या मतलब ? वे सुने ही क्यों ? अगर श्रवण भी हो जाय तो ध्यान ही क्यों दे ? ध्यान देते हुए भी प्रमत्तों की अज्ञानता पर तरस खा जाते हैं। इतने कठोर हृदयभेदी शब्द ! इतना बढता हुआ देहावेग !! इतना क्रोध पूर्ण आवेश और इतनी लम्बी जबान !!!

ये सब किस पर ?

एक महान् शक्तिधारी साम्राज्य पोषी वीरसिंह पर !

क्यों उसमें ताकत नहीं ?

क्या मजाल कि उसके हाथ लगावे। एक सर्वश्रेष्ठ पदधारी और देवों से भी वन्दनीय ऐसे नररत्न को ऐसे नृशंस शब्द ! एक दिव्य तेज धारी ऋषि के सन्मुख इतनी वाचालता !!

यदि चाहते—

क्षण भर में नष्ट कर देते। जहां का तहां खडा रख देते। बोलने की जिह्वा को तालुओं में चिपका देते। लम्बे हाथों को तोड मरोड डालते। चढी आंखों को निकाल बाहर करते और चाहते तो सर्व संहरण कर माटी का पुतला बना देते।

पर यह सब क्यों ?

महावीर कोई नन्हा सा छोकरा नहीं था। उसके बराबरी का व्यक्ति नहीं; जो उसे हराकर विजय लाभ लेता। प्रति-द्वन्द्वी तो स्वयं कंगला, अशक्त और दुर्बल था। उसे सताकर क्या लाभ लेते ? वह उसके सन्मुख कीट और चींटी से भी कहीं तुच्छ था। ऐसे तुच्छ पर दया ही की जाती है न कि निर्दयता।

ऐ संसार के कायरों ! बुर्जदिलों !! अपनी शक्ति को पहिचानो। जरा जरा सी बात पर भीड जाते हो लड पडते हो। यहां तक कि सत्यानाश कर बरबाद हो जाते हो।

देखो—

महावीर के वीरत्व को। क्या सुन सकते हो इतने कठोर शब्द ! और देख सकते हो ऐसा क्रोधावेश !!

अरे ! जिस शक्ति द्वारा तुम दूसरों का प्रतिवाद या प्रतिद्वेष कर विजय प्राप्त करना चाहते हो: वह तो स्वयं पराजित है ! ऐसे निर्बलों और नपुंसकों के शब्द ही उनके बल की फुंकार है और यह फुंकार ही उनका बल है। अजान और निर्बलों को सताने में क्या वीरता है ? वह तो बुझते हुए दीये की टिमटिमाहट है और इतना मात्र ही उनका पुरुषार्थ है।

वीरसिंह को मौन पाकर लडखडाता हुआ पैर पृथ्वी पर इतने जोर से रोपा कि पास पृथ्वी थर्रा उठी और लम्बे लम्बे हाथ बढाकर यों कहने लगा—"रे पिशाच ! क्या

मेरी ताकत की जांच करता है ? या मेरी मजाक करता है ? सुन, मैं प्रथम तो 'गोप' हूँ और फिर गायों का खूब दूध पीकर (शरीर को बतलाता हुआ) इस हृष्ट पुष्ट देह का धारक बना हूँ। रे ! देख, अब भी बोल जा तूने मेरी गायें कहां भगाई, कहां छिपाई ? तू तो मुझे बडा लम्पटी मालूम पडता है। गायें छिपाकर बस सीधा ध्यान लगा कर योगी की तरह खड़ा हो गया। रे शठ ! बता दे मेरी गायों को। नहीं तेरी चमड़ी-चमड़ी खोल दूंगा। जानता नहीं, मैं तेरी सब चालाकियों को भांप गया हूं।"

'ओ पाखण्डी ! क्यों अपना पाखण्ड रच रहा है ? क्यों ! तेरे सिर पर काल आ गया है ? अरे, तू डरता नहीं इतनी भयंकरता मे भी भय नहीं खाता ? रे चोर ! जानता हूं तेरी चतुराई को, मेरे सामने तेरी कुछ नहीं चलेगी।'

'चोरों का सिरताज ! अब भी संभल, और मुझे जबाब देदे कि तूने मेरी गायें कहां हकाल दी। मैं अब भी बिना मारपीट किये छोड़ दूंगा।'

इन शब्दों ने पास की वायु को गुंजित कर दिया। एक साथ सब तरफ ऐसे के ऐसे शब्द आने लगे। महावीर के कान इन सब का चतुर्गुना सुनकर भी दिल में तरस खाते रहे। और कर्मों के आदान-प्रदान के द्वन्द्व-युद्ध को तीक्ष्ण ज्ञान दृष्टि से देखने लगे। वे जहां के तहां और जैसे के तैसे खड़े रहे। एक भी शब्द में मुह से उत्तर नहीं दिया। श्रेष्ठ अहिंसा-वीर के कार्य को करने में तत्पर बने रहे कि अहिंसा कायरों की नहीं वरन् शक्तिधारियों का प्रबल से प्रबल शस्त्र है।

वे जानते थे कि 'पूर्वोपार्जित कर्मों का छुटकारा हो रहा है। एक अद्भुत रस का आस्वादन भी मिल रहा है। ऐसा अपूर्वानन्दमय मौका बार बार नहीं मिलता।'

महावीर को इतनी फटकार से विचलित न पाकर उसके क्रोध ने उग्र रूप धारण किया। अब 'गोप' महाशय 'गोप' न होकर अगोप हो गये। अपने शरीरी भागों को वश में न कर सके। भुंझला उठे! बदला लेने के लिये हाथ की रस्सी लम्बी की तथा युद्ध छिड़ने के लिए, पैरों को जोर से पृथ्वी पर दे मारने की आवाज रूप रण-नाद का पहिला आवाज किया। और रस्सी को पृथ्वी पर फटकार कर दूसरे रण-नाद के साथ शक्ति का जौहर होने लगा।

अहो! एक निर्बल प्राणी का इतना साहस कि किसी को कुछ भी नहीं समझता। ध्यानस्थ मौनी के साथ इतनी निर्दयता का व्यवहार कहां तक क्षम्य हो सकता है?

फिर भी—

आकाश को चीरकर आकाश-के टूकड़े टूकड़े करने वाले गगन भेदी रस्सी की सनकार को सनाहट के साथ फेरता हुआ बोला—"हे कम्बख्त! अब भी नहीं मानता! गर्व के मारे फूला जा रहा है! ले! देख, यह रस्सी अभी तेरा बल प्रकट किये देती है। बदमाश! स्वांग रचकर मेरे सदृश नर को भी ठगने लगा है! (एक कोड़ा जोर से मारकर)'—

'बोल रे छली! बोल, अब भी अपना मुखड़ा खोल और मेरी शक्ति को तोल।'

हैं ! नहीं बोलता (दूसरा कोड़ा (रस्सी) मारा)

चख, निशाचर ! अपनी करतूत का फल चख !
अपने घमण्ड का फल देख !!

(तड़ातड़ कोड़े की मार पड़ने लगी) शड़ा शड़,... शड़ा ... कशड़, शड़.. ड्... ड्... ड् शड़ ।

अहा ! यह क्या ? ऐसे नरोत्तम पुरुष पर यह क्यों ? चारों दिशाएँ चकित हुई । खेचर नीचे उतरे । वृक्ष लताएँ सहम गई श्रवणकार विस्मित हुए । सर्वत्र आश्चर्य जनक परिस्थिति हो गई । देवता चौंके । इन्द्रासन कम्पित हुआ ।

'अहो ! यह क्या हुआ ? यह क्या अंधेर है ? यह क्या माजरा है ? यह किसकी दुष्टता है ? आसन क्यों डिगा ? इस तरह अनेक विकल्प करता हुआ इन्द्र ने अवधि ज्ञान से पता पाया कि 'चरम तीर्थंकर महावीर पर एक क्षुद्र जीव द्वारा रस्सियों की मार पड़ रही है ।'

इन्द्र ज्यों का त्यों भगा । वज्र हाथ में जैसा था वैसा ही रह गया । घबड़ाता हुआ इन्द्र आकाश मार्ग से नीचे उतर रहा है और इधर वही 'तड् त... ड .. तड़ातड्... तड् ड्... ड् . तड़' की आवाज आकाश को चीर रही है । हृदय को भेद रही है ।

अदृश्य पुतला महावीर के चरणों में पड़ा । आदेश मांगा—

"प्रभु ! प्रभु !! यह क्या हो रहा है ? एक नन्हा सा तुच्छ मानव मेरे ईश्वर पर इस प्रकार प्रहार करे, यह क्या

मैं अपनी आंखों से देखूं या अपने स्वत्व को गंवा दूं ? प्रभु ! जरा दृष्टि करो। मेरा वज्र उछल रहा है। इस दुष्ट की देह के लिए तड़फ रहा है। बदले के लिए बढ़ रहा है।

सिर्फ—

आपके आदेश की राह देख रहा है। प्रभु ! आदेश दो—आज्ञा करो... करो....करो। प्रभु ! हुक्म करो अब मेरे से नहीं रहा जाता मेरी आंखे इसको जीते जी इस ओर इस दुष्ट को नहीं देखना चाहती है।"

उत्तर में वीर-सिंह हसा 'हाँ....हाँ.. हाँ....हाँ।'

इन्द्र घबरा उठा। वह प्रभु की इस हँसी पर चौकन्ना हो गया। 'शर् र् र् र् शट, शटाक... शट" की आवाज और भी भयंकर लगी। अब इन्द्र ने एक क्षण के लिए भी रुकना नहीं चाहा।

भुजाएं फड़क उठी-वज्र लपक उठा आंखे तनक गई और रक्त में बिजली चमकी।

अहा ! कैसा विचित्र समय, कैसा अद्भूत द्वन्द्व !!

सब जगह जब द्वन्द्वी और प्रतिद्वन्द्वी दो ही होते हैं; पर यहां तीन हैं और तीनों भी अलग पथ को काटने वाले भिन्न भिन्न सिद्धान्त को धारण किये विविध प्रकार की आकृति बता रहे थे। एक संभले तो संभले, पर तीन का जोड़ा कैसा ? महावीर शान्त है पर भक्त अशान्त और विरोधी भी अशान्त।

यह है अयात्मक युद्ध—

महावीर की निश्चिन्तता ने इन्द्र को विशेष भड़क दिया। सीमातिक्रमण होते देख महावीर तनक उठा—

"इन्द्र ! संभल, जरा संभल !! मैं जानता हूँ तू मेरा भक्त है; पर तू रागी है। तेरे मे विशेष यह जो सामने देख रहा है, 'गोप' है। यह मेरा त्राता है। मेरे पूर्व संचित कर्मों का बंध छेदन करने वाला हितैषी है। मेरे को शिक्षित बनाने वाला 'बंधु' है। सुपथ पर ले जाने वाला गुरु है। यह जो सन्मुख संग्राम देख रहा है वह मेरा घातक नहीं; मेरे कर्म शत्रुओं का घातक और गोप का पथिक है।

इन्द्र ! समझा, यह शिक्षा ग्रहण करने वाला शिष्य हैं; पर अपनी पराजय से पराजित होने वाला 'विजीत' है। ओ इन्द्र ! तुम्हारा वज्र उसके लिए नहीं। तुम स्वयं अहिंसा सिद्धान्त को सर्वोत्कृष्ट मानते हो और आदर देते हो, तो इस हिंसा और अहिंसा के युद्ध मे क्यों हाथ हटाते हो। मुझे सहारा दो कि मैं वहन कर खरा बनूं। मुझे कायर मत बनाओ।"

इन्द्र सुनते ही कुछ विचार में पड़ा: पर फिर वही "त ड् ड् ड् ड्....तड़ाक्....श र् र् र् र् र् शटाक्" की आवाज उसके हृदय को चीर कर पार कर गई। वह अपने पूजनीय भगवान से कह बैठा—"हे ईश ! क्या आप हमें वही शिक्षण देते हैं कि हम अपने गुरु के लिए शिष्य धर्म न बना सकें-आंखे बन्द कर कान बधिर कर इस वीभत्स काण्ड के दृश्य का अनुगमन किया करें ?"

'वीर ! आप वीर हैं; पर हम भी वीर के अनुयायी हैं। हम हमारे रक्षक की रक्षा करेंगे।' इतना कहते ही उसका हाथ ऊंचा उठने लगा–घातक की राह देखने लगा।

वीर हँसा '....हॉ हॉ....हॉ हॉ'। और कहने लगा 'ओ इन्द्र ! जो तुम मेरी सहायता करने— रक्षा करने आये हो तो खुद संभलो। अपने पद को याद करो। क्रोधावेश में भूल न जाओ।'

'क्या कहा कि शिष्य का कर्तव्य है कि गुरु की रक्षा करें। यह क्या कहा ! क्या मेरे रक्षक बनते हो।'

सुनो—

'मैं स्वयं इन अबोध पंथ रक्षकों को तथा नर पशु को पराधीनता का पाठ सीखा कर अपना स्वार्थ साधने वालों की आँखे खोलने के लिये, खरा तत्व बतलाने के लिये, उनकी चेष्टाओं में परिवर्तन करने के लिए और वाडा बंदियों को जड़ मूल में उखाड़ फेंकने के लिए सिंह की तरह अडोल खड़ा हूँ।' कायरता को दूर कर शूरता का पाठ सिखाने की और सच्चे अहिंसा पथ को प्रगट करने के लिये मैं यह कार्य कर रहा हूँ।'

'इन्द्र ! सुन, आज अहिंसा का दुरुपयोग हो रहा है। अहिंसा के नाम कायरता और हिंसा का जोर दिनोदिन बढ़ रहा है और ये बेसमझ प्राणी बुझ दिल, कायर, कंगले और पराये की हूक खाने वाले तैयार हो रहे हैं।

उनको—

हिंसा, अहिंसा के सन्मुख कहाँ तक टिक सकती है ? यह बतलाने को निश्चित खड़ा हूँ।

और सुन—

आत्म शक्ति भूलकर जो प्राणी शरीर को ही आत्मा मानकर बैठे हैं या शारीरिक शक्ति ही प्रबल मान रखी है, उनको आध्यात्मिक तेज का मजा चखाने को ऐसा कर रहा हूँ।" हाँ....हाँ... हाँ... हाँ।"

'ओ इन्द्र ! शकेन्द्र ! महाराज ! और मेरी सहाय्य !! मेरी सहायता करने की ताकत है ? बोल तू मेरा बदला चुकायगा ? अरे इन्द्र ! अगर तू क्या तेरा और अन्य सभी इन्द्र,–नृपेन्द्रों का सैन्य और बल भी इकट्ठा कर मेरी सहायता करने को आवे तो भी मै तेरी सहायता को तुच्छ समझता हूँ। सुनो,---

नापेक्षांचक्रिरेऽर्हन्तः परः सहायकं क्वचित्।
नैतद्भूतं भवति वा भविष्यन्ति यात्तुचित्॥

प्रथम तो पुरुषोत्तम पद धारी कभी सहायता चाहते भी नहीं और फिर जो तीर्थंकर अरिहन्त होते हैं वे कभी पर की मदद की स्वप्न में भी चाह नहीं करेंगे–"स्ववीर्येणव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं-पदम्।"

–वरन् अपनी शक्ति द्वारा ही श्रेष्ठ पद को प्राप्त करते हैं। दूसरी बात यह है कि धर्म के प्रसार करने में सुवर्ण के समान प्रचारक की परीक्षा होती है जिससे जग को खरे स्वर्ण की परीक्षा करना आजाय।

यह वही स्वर्ण–परीक्षा है जिसमें वीर स्वर्ण की तरह 'गोप–ताप' से अधिक चमकेगा–आदर्श बनेगा।"

इस मर्म भरी वाणी को सुनकर इन्द्र ठहर गया और वह वीरसिंह के सन्मुख गीदड़ की तरह अपनी शक्ति को दबाकर हाथ जोड खड़ा हो गया।

इधर शक्ति का पुतला गोप अपनी शक्ति को अजमा कर थक गया। आखिर वह भी तो मनुष्य था। हाथों को रोका ही था कि महावीर की दिव्य कान्ति उसके क्रोध सहित–चक्षु पथ मे प्रवेश कर गई ! वह अपने हाथ से किये इस वीभत्स काण्ड को देखते ही पृथ्वी पर धड़ाम से टूटे हुए वृक्ष की तरह वीर के चरणों में गिर पड़ा। अचेत हो गया। और––

मानसिक पथ में प्रयाण करने लगा। प्रथम वह अपने को पश्चाताप करते हुए पाया और दूसरे ही क्षण में भारवा ही चरित्रवान जवाबदार बना फिर सरलता का शिकारी निष्फिक्र 'बालक' बन गया।

गोप सचेत हुआ। अपने किये कृत्यों को देख कर महावीर के पैरों में गिरते हुए लोट लोट कर "त्राहि माम् प्रभु ! 'त्राहि माम्" का पाठ बोल बोलकर क्षमा मांगने लगा। वीर की चक्षुओं ने ध्यान भंग किया और मधुरस की एक धार उस तड़फते हुए पथिक पर पड़ी। वह महावीर की ऐसी शान्त और प्रसन्न मुखाकृति देख कर विस्मित हुआ और टकटकी साधे देखता रहा।

महावीर वीर-सिंह की स्वर्ण परीक्षा

वह ग्वाला अब 'गोप' अर्थात् सच्चा इन्द्रियदमन करने वाला ग्वाला बन गया। इन्द्रियों को पोषण करने वाला इस समय गोपन करने वाला-वश करने वाला 'गोप' बन गया। उसे वीर की सरस दृष्टि में एक अद्भुत आनन्द नजर आ रहा है—अजीब शक्ति का संग्रह कर रहा है—अलौकिक तेज को पारहा है। वह उनके नेत्रों मे बाहर होने की कोशिश भी नहीं करता है। उसको वीर की निगाह रूप छाया ही पसन्द आई है। उसे वीर-प्रभु के दर्शनों की दर्शनातुर इच्छा को पूर्ण करना ही जंचा है। दृष्टि मे बाहर होना उसे नहीं भाता है।

महावीर ने उसे सचेत समझकर-शान्त रस का प्यासा देख कर क्षमा मांगने वाला भीखारी नम्र सेवक मान कर—

पीयूष—धारा—

प्रवाहित करने लगे।—'ओ गोप ! मुझे तुम्हारे कर्त्तव्य से प्रेम है। तू ऐसा न समझ कि मैं पापी अधम-नीच हूँ। दिल में ऐसा विचार कि—'मैं महावीर हूँ—वीर की प्रजा हूँ-सन्तान हूँ।' अब तुझे क्षमा मांगने की कोई आवश्यकता नहीं। तूने खरापन पहचान लिया है। बिना ठोकर खाये सच्चा ज्ञान मिलना भी दुर्लभ है। आज तेरा अहोभाग्य है

कि तूने मेरे सरीखे कर्मशिकार को शिकारी से बचाया, साथ ही तूने भी अपूर्व आनन्द लूटा।

संसार में कोई किसी से छोटा नहीं है। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' का अनुगामी हो वीर–मार्ग का अनुयायी बन सकता है। जहां किसी का भेद नहीं–सब बराबर है। सिर्फ अज्ञता और सुज्ञता का भेद नजर आता है।'

'शायद, तू ऐसा विचारता है कि मैंने ऐसा नराधम काम इस योगी पुरुष पर क्यों किया और ऐसा ही मान कर गिड़गिड़ाता है तो तू अपनी बाह्यरूपी दृष्टि को फेर दे और आध्यात्मिकता पर आ और देख कि यह सब कैसे हुआ? बिना सोचे समझे कोई कार्य करने पर पछताना जरूर आता है; अतः आज से यही शिक्षा मिलती है कि अपना काम करने के लिये आगा पीछा विचार कर कार्य करने में तत्पर रहना चाहिये। दूसरी बात यह है कि जो तूने वाड़ा बंधी का इतना गाढ़ बंधन बांधा है कि तुम्हारी गायें कभी भी खुली हवा को और हरे घास को देख ही नहीं सके। इससे आज शिक्षा ले कि–"कभी इतनी पक्की वाड़ा–बंधी नहीं करना। क्या साधू ? क्या समाज ? सब में हद से ज्यादा गुलामी बुरी होती है। निर्बल बेसमझ और भोले प्राणियों पर यह पराधीनता अवश्य एक न एक दिन गुलाम पोष की घात करने वाली सिद्ध होगी।'

'तेरी गायों को तू खूब डंडे मार मार कर वश में की और खुली हवा में नहीं जाने दी। उसी का यह परिणाम है कि वे सब तेरे बंधन से मुक्त हुई। प्रथम तो गुलाम बनना ही बुरा है और गुलामी को बढ़ाना तो उससे भी कहीं

अधिक गुना बुरा है। अतः आज से बाडा बंदी करना छोड़ और इस जाल से स्वयं भी दूर हो। स्वतंत्र सिंह की तरह निश्चिन्त हो विचर, कायर और ममत्वी बनाने वाले इन बाड़ा बंदियों को ध्यान में ला और इनके कुचक्र में भूल कर भी मत फंस।'

"जो हुआ सो हुआ अब भी चेत और स्वात्मा को संभाल तथा आज से ही आत्मानुसंधान की ओर ध्यान दे। सच्चा 'गोप' बनकर अपने गोप-वंश का आदर्श बन। चिन्ता को छोड़ निश्चिन्त बन। भय को छोड़ निर्भय बन। निरुत्साह को छोड़ उत्साही बन! गुलामी को छोड़ स्वतंत्र बन। गीदड़ के दब्बूपन को छोड़ सिंह बन। आज तूने अभयदान प्राप्त किया।"

ग्वाला सुधा—रस का पान कर निर्भय बना लेकिन घातक—वृत्ति की लज्जा, लज्जित कर रही थी। अतः उसने बड़े नम्र भाव से वीर-सिंह के पैरों को बार-बार छूआ और शाम का समय आ चुका था इसलिये घर की ओर प्रयाण किया।

उसने कष्ट दिये अवश्य पर उसे भी बिना ऐसा किये शिक्षा कब मिल सकती थी आखिर वह नादानी पार कर 'सनयज्ञ' बना। महावीर का सच्चा भक्त और सेवक बन गया। उसे अपने कर्त्तव्य का बोध मालूम पड़ा और उसने कर्त्तव्य के अनुकूल आगे चलने का निश्चय कर लिया।

ग्वाले की जाति वास्तव में अबोध और गंवार होती है। उसे किसी भी पुरुष का उच्चत्व और नीचत्व ख्याल

नहीं रहता ! उसे दिल में जो आया या दिमाग में जो जंचा बिना खयाल किये कर डालती है । ऐसी भोली ग्वाल—जाति के एक ग्वाले का उद्धार कर भगवान वीर-प्रभु ने बड़े भारी कर्त्तव्य का भान कराया । धन्य है, युग-वीर वीर-सिंह को और उसके इस प्रकार के अभयदान को !

वा क्ता प—

(ऋषि आश्रम)

रात्रि का समय भी ध्यानस्थ हो उसी जगह बिताया। सुबह होते ही कोल्लाक सन्निवेश की ओर पदार्पण किया। दो दिन का उपवास व्रत का पारना बादुल नामक ब्राह्मण के यहां किया। वहां से मोराक सन्निवेश में पधारे। उस स्थान पर ऋषि-कुल-पति से-आश्रम के मुखिया से मुलाकात हुई। ऋषि-कुल-पति ने चतुर्मास की विनती की। बहुत आग्रह और नम्रता को देखकर वीर-सिंह ने उनकी विनती स्वीकार करली।

मोराक सन्निवेश के लिये चतुर्मास निश्चित हो गया अतः महावीर इस ग्राम के समीपवर्ती प्रान्त में विचरते और ध्यानस्थ खड़े रहते। इस तरह से करते हुए चतुर्मास के दिन निकट आ गये। वे चतुर्मास के शुरु होने के प्रथम ही आश्रम में पहुच गये। सत्कार के साथ तपस्वी ने उन्हें ठहरने के लिये एक कुटीर सौंप दी। वे वहीं ध्यान मग्न खडे रहते।

वहा इस तरह से खड़े रहते कई दिन बीत गये। जिस कुटियों में वीर रहते उस कुटिया की घास को गायें खाकर और लकड़ियों को खींच तान कर बिखेर देती थी। इस

तरह से गायें हमेशा आकर धूम धाम कर चली जाती थी। महावीर के ध्यानमग्न रहने के कारण उन्हें कुछ भी नहीं कह पाते। दूर भगाने के लिये प्रयत्न भी नहीं कर पाते। वे ध्यान में ही तल्लीनता को प्राप्त हो जाते थे, फिर बाह्य क्रियाओं से उन्हें क्या मतलब? वे क्यों किसी को कुछ कहने लगे? वे तो अपना स्वार्थ साधते रहते थे।

तापस-समूह उनकी ऐसी वृत्ति देखकर मन में बहुत कुढ़ते थे। हमेशा की हमेशा गायें आती और इसी तरह बिखेर कर चली जाती। महावीर के ध्यान ने उनको बहुत क्रुद्ध बना दिया। आखिर उन्होंने अपने कुल-पति से शिकायत कर ही दी। उन्होंने अपने शिष्यों की बात पर ध्यान न दिया। लेकिन बार-बार तापसों की इस प्रकार की पिशुन वृति में कुछ सार समझ कर जहाँ महावीर की झोंपड़ी थी, सन्मुख आ खड़े हुए। दृश्य देखकर क्रुद्ध हुए।

उन्होंने महावीर को आंखे बंद किये हुए देखा। ध्यान मग्न पाकर कहने से कुछ हिचके लेकिन मुह से शब्द निकल ही पड़े। उन्होंने क्रोध में आकर शब्दों की झड़ी लगा ही तो दी।

'ओ क्षत्रिय-पुत्र! आज तुम्हारी क्षत्रियता कहाँ गई? कुटीर को क्षतात् क्यों नहीं त्रायते? रक्षा करते हैं। अपने असली धर्म को छोड़ क्या चर्या धारण की है। मैं तो समझता कि वीर धर्म का पालन कर वह राजकुमार हमारे आश्रम की रक्षा में भाग लेगा लेकिन स्वयं नाश की ओर आश्रम को बढा रहा है।

'क्या तुम पुरुषार्थ हीन हो ? निष्पौरुष होना ही अपना ध्येय बना रखा हैं। ओ ज्ञान पुत्र ! आप ऐसे समझु होकर भी यह क्या अज्ञता धारण की है।'

कहां गई तुम्हारी अक्ल और कहां गई तुम्हारी शान !

'अपने रहने के घर की रक्षा नहीं कर सकते तो परोपकार और दूसरों की रक्षा करने वाले बनकर किसी तरह क्षत्रियता निभा सकोगे ? तुम्हारे पूर्वजों ने इस आश्रम की रक्षा की थी, पर आज तुम्हें यह क्या सूझ रहा हैं ?'

'अरे, ओ राजकुमार ! क्यों, मेरे को आते देख कर आँखें बंद करली और निरुत्तर बनने की अपेक्षा मौन धारण करना अच्छा समझा ? अपने राजकुमार होकर ऐसी उट-पटांग चर्या क्यों धारण की।'

'ओ ध्यानी ! ध्यान के ढोंगी !! तुम्हारी ऐसी निश्चेष्ट वृत्ति देखकर मैं बहुत विस्मित हो रहा हूँ। तुम पुरुष हो-नरसंज्ञक हो-तुम विशेष ज्ञाता हो इतना सब कुछ होते हुए भी प्रयत्न नहीं करते। देखो, इन तापसों में से किसी एक की भी झोंपड़ी अस्वच्छ या अस्तव्यस्त भी है ? एक तो ठहरने के लिये स्थान दिया और उस पर भी उसकी ऐसी दुर्दशा शोभनीय नहीं है। ठीक है, पराये की क्यों चिन्ता करने लगे। तुमको तो अपनेपन की सूझ रही है। दूसरे का नुकसान होता है, इस बात से तुम्हारा क्या प्रयोजन है।

क्या तुम में इतना भी पुरुषार्थ नहीं कि अपने हाथ पैर हिला सको। कितना लंबा अरसा हुआ क्रिया शून्य प्रवृत्ति करके तुम क्या करोगे ?

इस तरह कुल-पति कह कर चले गये। महावीर को इन शब्दों से क्या प्रयोजन—वह तो फक्कड़ फकीर है। इन हृदयभेदी शब्दों को महावीर ने शीतल जल को घूंट की तरह पी लिये। महावीर ने उनके शब्दों में उपदेश ग्रहण किया। और ऐसे स्थान से बाहर निकल जाना अधिक पसंद किया। वीर-सिंह ने दिल में विचार-विनिमय कर कुछ बातें अपने हृदय में जचाली जो कि उनके मार्ग में कण्टकाकीर्ण का काम करती थी।

अप्रतीतिकर स्थान में नहीं ठहरना, गृहस्थों से नम्रता की चाह नहीं करना, मौन धारण करना, ध्यान और तपश्चर्या की दैनिक चर्या रखना। हाथों में भोजन करना, पात्रादि कुछ भी साथ नहीं रखना आदि अनेक बातों के दिल में प्रण कर लिये और उनकी प्रवृत्ति चालू करदी।

अभी चतुर्मास के दिन व्यतीत नहीं हुए थे तो भी वीर को उस आश्रम से प्रयाण करना पड़ा और अपने इच्छित प्रण को निभाने के लिये नजदीक अस्थिक ग्राम की ओर विहार कर दिया।

———

यक्ष—ताप

शूल—पाणि—परा—जय

अास्थिक ग्राम-इस नाम मे भी यही जाहिर होता है कि जहाँ अस्थि अर्थात् हड्डियों का होना पाया जाता है। अक्सर देखा जाता है कि जहाँ जहाँ हड्डियों का ढेर होते हैं वे स्थान बड़े भयंकर मे दिखने हैं। प्रथम तो ग्राम के दर्शन ही अशुभ हैं, वहाँ हड्डियों के ढेरों का होना भयंकरता को विशेष बढ़ा देता है। असली कारण यही था कि वहां एक यक्षालय था। वहाँ पर शूलपाणि नाम का प्रसिद्ध यक्ष रहता था। उसके उत्पात से नजदीक की भूमि नरशून्य हो रही थी। उसके डर से कोई भूल कर भी इस रास्ते नहीं निकलता था।

उस गाँव के एक एक कर के अनेक मानवों को यमपुरी पहुंचा दिये थे। इसी भय से वहाँ के निवासियों ने उसकी इच्छा के मुआफिक उसे पूजा, धूप, नैवेद्य आदि द्वारा खुश रखने के लिये भरसक प्रयत्न करते थे। फिर भी कभी कभी वह असन्तुष्ट हो जाता था और विभत्स काण्ड मचा ही देता था। उसका क्रोध और व्यवहार निर्दयता से युक्त था। उसके गुस्से के सन्मुख कोई टिक नहीं सकता था। उस यक्षालय को कोई अपनी इच्छा से देखने की भी इच्छा नहीं करता था। लोग उस यक्षालय के नाम से ही धूजते थे।

महावीर ने उस ग्राम के उसी यक्षालय में ध्यान मग्न रहकर अपने चतुर्मास के अवशिष्ट दिन बिताने की मन में अभिलाषा की। वहाँ ग्राम के लोगों ने उनसे विनय पूर्वक बहुत प्रार्थना कि आप भयंकर स्थान पर एक समय के लिये भी न ठहरें। इसमें यक्ष रहता है। वह अपने गुस्से का तेज और अपने अभिमान के सन्मुख किसी को कुछ भी नहीं समझता है। वह नर संहारक महान पिशाच है। इस विनती को महावीर ने अस्वीकृत कर दी और उसी यक्षायतन में ध्यान लगाकर खड़े रह गये।

दिन का समय बीता। पुजारी वहाँ से पूजा कर घर की ओर जाते हुए कह गया कि 'कृपया रात्रि को तो इस यक्षायतन को खाली करके दूसरी जगह चले जायँ, नहीं तो आपकी खैर नहीं होगी। यक्ष बड़ा भयंकर और किसी को कुछ नहीं समझने वाला है, आज तक जिसने इसकी अव-हेलना की उसकी पूरी पूरी खबर ली है ;अत: आप से विनय है कि आप भी इस स्थान को खाली कर दें। न मालूम रात में आपके ऊपर क्या आपत्तियाँ आवें।' वह पुजारी तो इतना मात्र कहकर चला गया पर उसे सुने कौन ? महावीर तो ध्यानस्थ थे। उनके कानों तक वे शब्द नहीं पहुंचे।

रात्रि का समय—

अंधकार—घना तिमिर छाया हुआ था। प्राणी दूसरे को भली प्रकार नहीं देख सकते थे। ऐसे ही समय में यक्ष अपनी क्रीड़ा करने के लिये बाहर निकला तो सामने

नरभक्षक किसी प्राणी को मुझ खड़े हुए देखा। उसने दिल में विचारा कि–

यह मनुष्य इस समय इस जगह क्यों आया। क्या इसने मेरा नाम नहीं सुना था। जाना, यह धूर्त अपनी बहादुरी बताने आया है। यह समझता है कि लोग उससे डरते हैं। मैं देखूं तो सही; उसमें क्या ताकत है; अतः मैं भी इसे अपनी करतूत का फल चखा देता हूँ।

बहादूरी को अजमा लेना--

चाहता हूँ। ऐसा विचार कर उसने अपना मुंह खोला। ज्वाला के समान ज्वाला को निकालते हुए इसने जोर से गर्जन किया कि आसपास के पशु पक्षी भयभीत हो गये और मारे डर के इधर उधर लड़खड़ाने लगे। मेघ समान गर्जना सुनकर मयूर बोल उठे। इतनी भयंकर गर्जना करने पर भी महावीर ध्यान में ही मग्न रहे।

यक्ष उनको मौन और ज्यों के त्यों खड़े देख कर बड़े गुस्से में हुआ। उसने सोचा–'यह मेरी जाँच करने आया है? अहो? इतनी निडरता और निश्चलता? देखूं, यह कितनी देर तक ठहर सकता है।' ऐसा विचार कर–

उग्र और भयंकर राक्षसाकृति––

बना कर संमुख आया। बार बार आंख टेढ़ी कर रंग बिरंगी कर, जिह्वा को लंबी-लंबी निकाल कर अपना रूप दिखाने लगा। भयंकरता का दर्शन देने लगा। कभी पहाड़ सरीखा लम्बा हो जाता, कभी चींटी सरीखा प्राणी

बन जाता, कभी सिंह बन कर गरजता। कभी हाथ पैरों को लम्बा तानकर पसर जाता। इस तरह नानाविध रूप धारण कर थक गया। अन्त में उसने सर्प का सा फुत्कार मारता हुआ दूर से लपकता हुआ आया और शरीर को डसने-डंशने-काटने लगा। एक जगह फिर दूसरी जगह तीव्र वेग से काटने लगा। बार बार पहिले से अधिक क्रोधित होता हुआ महावीर के शरीर में बड़े बड़े गहरे घाव करता हुआ-काटने लगा। जब वह अपनी सब ताकत आजमा चुका तब लज्जित हो महावीर के सौम्य मुख की तरफ देखने लगा कि दर असल यह है कौन ?

इसमें यह क्या ताकत भरी है। यह मेरे सरीखे दुष्ट यक्ष से भी नहीं डरा। जैसा था तैसा अपने हाल में मस्त है। टस से मस होना भी नहीं सीखा। मैंने इतनी विकराल आकृतियां बनाईं, इतने भयंकर शब्द किये, इतनी चलित करने वाली और नाश करने वाली शक्तियां काम में ली तथा इतने तेज गुस्से से उसके शरीर को डस कर छिद्र युक्त बना दिया फिरभी चूं तक नहीं किया। यह कौन ?

इसका चेहरा वैसा ही प्रसन्न है जैसा पहले था। विकार तक आने का काम नहीं। इस तरह विचार करता हुआ वीर उस दिव्य पुञ्ज की ओर दृष्टि लगाये देखने लगा। ज्यों ज्यों वह अधिक उत्सुकतापूर्वक महावीर को देखने लगा, त्यों त्यों उस पहले से भी विशेष आनन्द प्राप्त होने लगा। जिस आकार ने प्रथम क्रोधित किया वही आकार अब शांतिपय सरसा रहा है। यह है दृष्टि भेद !

महावीर की अहिंसा वृत्ति और क्षमा के असीम तेज के

सन्मुख संसार की समस्त शक्तियां हार मान कर ठहर जाती हैं और ऊंचा सर कर देखने का साहस भी नहीं कर सकती।

आज हम देख रहे हैं। फासिज्म, व्यक्तिवाद वर्गवाद कम्युनिज्म, सोसलिज्म, साम्राज्यवाद आदि अशान्ति वर्द्धक अनेक मत जोर पकड़ रहे है एवं अपनी ताकत के साथ यानी जबरदस्ती अत्याचार करते हुए भी नादरशाही हुक्म कबूल कराना चाहते हैं और ऐसा कर भी रहे हैं। शस्त्रों की सहायता से शांति का आह्वान करना चाहते हैं। यह बड़ी भारी भूल हो रही है।

चाहते हैं शान्ति, पर बढ़ा रहे हैं अशान्ति। कारण एक राष्ट्र अपनी पौग्दलिक शक्ति को मजबूत कर अपना पैर फंसाना चाहता है-पसारना चाहता है, तो दूसरा उससे भी बढ़कर शक्तियां एकत्रित कर उसे पछाडने को उतारू हो जाता है। इस तरह युद्ध की नींव पड़ जाती है। अन्ततः जन संहार होकर ही शांति लेता है। तब भी ईर्षा और द्वेष की भावना कम नहीं हो सकती।

—अहा ! कैसा सहन शील !

वीरता का भण्डार ही इस क्षमा वृति को अंगीकार कर सकता है। शांति का पुजारी ही सहनशील बन सकता है। प्रतिद्वन्द्वी चाहे जो कहे, करे या करावे, इसका बिलकुल खयाल न कर स्वात्म को वश कर शांति धारण करले। इसमें प्रतिहिंसा और अशांति वर्द्धक अस्त्रों का उपयोग भी नहीं करना पड़ता। वरन क्षमा रूपी ताकत से स्वयं पराजित हो विपक्षी झुक कर आगे आ खड़ा होता। उसको

डराने-धमकाने, जोश बताने और कर दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह जो उछलता है। शक्ति की धौंस भरता है और ताकत आजमाना चाहता है, स्वयं कमजोर है और कमजोरी ही उसे क्रोध दिलाती है। शूरता क्रोध में नहीं लेकिन सहनशीलता में है। देने के बदले देना सरल है पर मार सहना-कष्ट झेलना महान कठिन है। यह कार्य कोई बिरला व्यक्ति ही कर सकता है। सामान्य जन ऐसा करने में समर्थ नहीं है।

महावीर ने अपना ध्यान सम्पूर्ण किया। सन्मुख दुष्ट पिशाच पर अपनी हंस-मुख-मुद्रा की चक्षुओं की दृष्टि फेंकी। बिलखता हुआ यक्ष, पैरों पर गिर पड़ा और बार बार क्षमा याचना करने लगा। अहो भगवान् ! आप जैसे जग उद्धारक ने मेरे सरीखे दुष्ट प्राणी को सद्ज्ञान-पय पिलाया—भूले रास्ते से मार्ग पर लाये। अहो ! मैं किस हिंसाकारी नाट्य का अभिनय कर रहा था।

'मैने उनको संहार किये। उन मृतकों की हड्डियों के ढेर के ढेर इस ग्राम के निकट नजर आते हैं और इसी कारण इस ग्राम का नाद भी 'आस्थिक' पड़ गया है। मेरे समान संसार में कौन हिंसक होगा ? मैंने आज आप सरीखे दयालु की शरण ली है अत: आज मैं मेरा कल्याण निकट समझता हूँ। प्रभो ! मुझे अपना अनुयायी बनाओ और मुझे इस दु:ख सागर से पार करो।'

'प्रभो ! मैंने आपके साथ जिस हिंस्य वृत्ति का व्यवहार किया है। वह मेरी दुष्ट वृत्ति का आदर्श संसार के लिये रह जायगा अत: इसे आप-संताप से तारों ! सच्चा

रास्ता बता कर मेरे कार्यों को सुधारो !! मुझे पापियों की संगति से उबारो !!! ईश ! मुझे क्षमा करो मैं महान पापी हूँ।"

वीरसिंह ने उसकी गद् गद् वाणी सुनकर उपदेश दिया-सम्यक्त्व प्राप्त होने का तरीका बतला दिया। उसके लिये जीवन-सुधार-सम्बन्धी कार्यवाही बतला दी जिससे वह बहुत संतुष्ट हो-महावीर की मरम वाणी को सुनकर हर्षित हो अपनी अशुभ वृत्तियाँ त्याग दी. सम्यक्त्व का रक्षक सम्यक्त्वी देव बन गया। यह अहिंसा का प्रताप।

दूसरे दिन पुजारी महावीर को प्रसन्न वदन ध्यानस्थ देखकर बड़ा चकित हुआ। इधर लोगों का कहना महावीर ने नहीं माना था इसलिये नाना प्रकार की कल्पना करते हुए बहुत सारों ने बिना शयन किये ही रात्रि बिता दी। सुबह शीघ्रतया महावीर की दशा देखने और बहुत से बात नहीं मानने को मजा देखने को इकट्ठे हुए। वीरसिंह को जैसा का तैसा और जहाँ का तहाँ ध्यान मग्न खडा देखकर बड़े अचम्भित हुए। उनके शरीर पर सर्प-दंश के चिह्नों को देखकर मन में बहुत घबरा भी रहे थे। इन नरोत्तम पुरुष को भी इसने नहीं छोड़ा। भीड़ अभी बिखरने भी नहीं पाई थी कि महावीर ने एकायक उस स्थान से विहार कर जाने के लिये ध्यान भंग किया।

जन-समूह ने दिव्य-मूर्ति का दर्शन किया। वीरसिंह ने भी जन-समूह को सुनने का इच्छुक पाकर इस प्रकार शब्दोचारण करने लगे—

'आज तुम्हारे सब दुःख दूर हुए। जिस यक्ष की दुष्टता से आप लोग डरते थे। वह आज नर-पशु संहार का त्यागी बना है। आज से तुम्हारे सब भय नष्ट हुए।

देखो—

धर्म की परीक्षा ऐसे समय में होती है। जो अपने धर्म को कर्त्तव्य को—फर्ज को निर्भय हो पालन में तत्पर रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं; अतः आप लोग आज से तुच्छ देवी देवताओं के लिये नर-पशु बलिदान मत करो। यक्ष तो खुद हिंसक और मूढ़ होते हैं और आप लोग उसके मुवाफिक कार्य कर या उससे डर कर उसे और भी ज्यादा निर्भय बना देते हैं। आयंदा से ध्यान रहे—यदि कभी भी कोई यक्ष या देवी आप लोगों को तंग करे तो आप अपने धर्म में दृढ़ बन जाओ, क्रियाओं में विश्वास पूर्वक तल्लीन हो जाओ और आते हुए कष्टों को निर्भयता पूर्वक झेलते रहो। कष्टदाता-तंग करने वाला अपने आप हार कर पराजित हो जायगा। वक्त पर पैर तक चूमने लगेगा।'

लोगों पर इन वचनों का बड़ा असर हुआ। लोगों की विनती और हार्दिक इच्छा को मान देकर वीरसिंह ने शेष दिन चतुर्मास यहीं व्यतीत किये।

चतुर्मास समाप्त हो जाने के पश्चात आस-पास की बस्तियों में घूमते हुए एक बार फिर मोराक में पधारें। वहां पर एक वैद्य रहता था। वह यंत्र, मंत्र, तंत्र, ज्योतिष और वैद्यगिरी का बड़ा ज्ञाता समझा जाता था। लेकिन उसमें योग्यता नाम मात्र की ही थी फिर भी उसकी धाक से वह

अपना गुजरान भली भांति चलाता था। महावीर के दो बार के पदार्पण से जनसमूह का आकर्षण उसकी तरफ से हट कर वीरसिंह की ओर बढ़ता गया और बढ़कर उनकी तरफ ही स्थिर होने लगा। वैद्य ने अपना प्रभाव हलका होते देखकर-वीर-प्रभो से अपनी कांति फिकी पड़ती जानकर वीरसिंह की तपश्चर्या और महन शक्ति की आभा को पहचान कर-दिव्य तेज की प्रभा को समझ कर उनके चरणों में जा गिरा। बड़ी आजीजी कर नम्र भाव से विनती की कि 'आप सब प्राणियों के रक्षक हैं। मेरी आजीविका आपके यहाँ ध्यानस्थ खड़े रहने से घटती है और लोग मेरी तरफ से अविश्वास करने लग गये हैं अतः कृपाकर इस गरीब पर दया कर मेरी विनय को ध्यान में लाकर यहाँ से विहार कर जायें।'

वीरसिंह ने अपनी साधक-अवस्था को ख्याल कर कार्य क्षेत्र की ओर लक्ष्य कर वहां से विहार कर वाचाल सन्निवेश में ठहर कर श्वेताम्बरी नगरी की तरफ पधारें।

सर्प-ताप

चंड कौशिक का उद्धार

मनुष्य जब कोई काम करने निकलता है उस समय उसे कितने ही कष्ट आ घेरते हैं और वे ही उसके लिये परीक्षास्थल बन जाते हैं। वीर-प्रभु सच्चे वीर बन कर संसारी यातनाओं को जीतने जा रहे हैं। उनके लिये वे यातनाएं स्वयं रमप्रद हो रही है।

हम जानते हैं—

—कि जरा सा कार्य करने में हमें कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। बहुत से मानव कठिनाइयों से ठहर कर-डर कर उस पथ को छोड़ देते हैं। कितनेक डटे रहते हैं। बहुतेरे जीत कर विजयी होते हैं। महावीर उनमें से विजयी बनाने वाली श्रेणी के अनुगामी हैं। उन्हें कोई बाधाएं दबा नहीं सकती; न वे स्वयं दब सकते हैं। उनका बल प्रबल है इच्छा अटल है और मार्ग भी सफल है एतदर्थ वे स्वयं भी सफल हैं।

श्वेताम्बरी नगरी को जाने के लिये मार्ग बड़ा विकट और विहड था। प्रथम घना जंगल अपनी भयंकरता से डरावना मालूम होता था उस पर भी जंगल में काल-व्याल

चण्ड-कौशिक अपनी भयंकरता से सब प्राणियों को तंग कर अटल राज्य कर रहा था। किसकी ताकत जो उस वन में पैर दे सके। उसकी दृष्टि में इतना विष समाया हुआ था कि जिधर दृष्टि करता—जीवों और वृक्ष लताओं का होम हो जाता। कोई भी उसकी विष भरी दृष्टि से बच नहीं पाता था। इसीलिये वह 'दृष्टि-विष-सर्प' इस नाम से प्रख्यात था। क्रोध का पार नहीं था। कोई भूल कर भी उस रास्ते पर पैर नहीं देता था। उसका संहार करना तो दरकिनार लेकिन उसका सामना भी कोई करने की हिम्मत नहीं करता। कभी कोई अपने बल का अभिमानी उधर से निकला भी होगा तो उसने अपना सर्वस्व खो दिया होगा। उसकी भयंकरता से कोई भी पक्षी उसके पास की वृक्ष-शाखाओं पर बसेरे के लिये भी नहीं आता। वह जंगल भी स्वयं अपनी शुष्कता के कारण ऐसा डरावना मालूम होता था कि कोई मानव और पशु-पक्षी आगे पैर देने का साहस नहीं कर पाते थे। इसके लिये ज्यादा कहने की अपेक्षा प्रत्यक्ष देखना ही अधिक अनुभव जन्य ज्ञान प्राप्त करना है।

ज्यों ही वीरसिंह जंगल की ओर मुडे त्यों ही कुछ ग्वाल बाल, जो कुछ ही दूर पर अपनी गायें चरा रहे थे—दौड़ सन्मुख आये, वे वीर की सौम्य तथा सुगठित सुडौल वीराकृति पर मोहित होकर दयान्वित हुए। उन्होंने वीर प्रभु को उस जंगल के रास्ते जाते हुए कहा। "प्रभो ! आप इधर कहां जा रहे हैं ? यह रास्ता बड़ा भयंकर है, इस रास्ते कोई भी प्राणी भूल कर भी नहीं जाता। बहुत पुराना हो गया है इस वास्ते हम आपको दूसरे अच्छे रास्ते ले चलते हैं। आप हमारे पीछे पीछे चलिये।"

शीरसिंह ने सुनकर प्रश्न पूछा—क्यों, इस मार्ग में क्या कठिनाइयां हैं ? जिनके लिये तुम सब मुझे उधर जाने से इन्कार कर रहे हो। यह तो बिल्कुल सीधा रास्ता है जहां कि मुझे जाना है।

एक गोप-बाल ने उत्तर दिया—'भगवान् ! आप तो हमें कोई विशेष पुरुष मालूम होते हैं। आपकी शरीराकृति हमें पागल सा बना रही है। आप ऐसे कोमलांग होते हुए ऐसे वेश में क्यों हैं ? यह प्रश्न हमारे हृदय को आन्दोलित कर रहा है। आपके वचन हमारे कर्णों के लिये सुखद बन रहे हैं ! हम आप सरीखों को क्या कहें और आपको किस प्रकार बतलावें ? फिर भी हमारे हृदय बिना कहे विश्राम नहीं ले सकते। हमारी जिह्वा आपको सच्चा हाल कहने में नहीं रुक सकती।

'प्रभो ! आगे जो आप देख रहे हैं—बीहड़ बन है। वहां पर एक दृष्टि-विष-सर्प रहता है वह इतना भयंकर है कि उसके पास कोई भी पशु-पक्षी क्या मनुष्य भी नहीं जा सकता। उसका विष इतना प्रबल है कि केवल देखने मात्र से ही प्राणी के रग रग में जहर फैलकर शीघ्र ही मृत्यु शैय्या का अधिकारी बनता है। वह सुनने में इतना कर्ण-पटु है कि गजों दूर की पैरों की धीमी सी आवाज से प्रेरित हो क्रोध से ओत प्रोत हुआ बिल के बाहर आ लपकता है और इधर उधर दृष्टि डाल कर आवाज करने वाले का होम कर देता है।'

'हे कोमलांग ! आप पर हमें दया आती है कि अच्छा है, इस कार्य से बच जायं और दूसरे रास्ते से अपने यथेच्छ

स्थान को प्राप्त कर सकें। अतः हम आप से प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे साथ चलें।'

ग्वाल-बाल इतना कह ही पाया था कि-प्रभु ने तनक कर जवाब दिया–

'सुनो, मैं जिसका मार्गानुसरण कर रहा हूं—वह वीरों का है न कि कायरों का। मैं अपने राज्य भार को छोड़ जो दीक्षित हुआ हूं वह डरने के लिये और संसारी यातनाओं से दब जाने के लिये नहीं; वरन् स्वयं उनका भय भगाकर संसारी यातनाओं को दूर कर भव्य जीवों का रास्ता साफ करने के लिये निकला हूं।'

जानते हो, वीर कभी ऐसे दुर्गम रास्ते में भय नहीं खाते उनके लिये तो यही मार्ग अनुकरणीय है। जो इस मार्ग का अनुगामी नहीं होता उसकी वीरता की परीक्षा भी कभी नहीं हो पाती। न वह वीर कहलाने के योग्य ही होता है। दूसरी बात यह है कि वीर जो मार्ग पकड़ लेता है या जिस ध्येय को अपना लेता है—वह उसे अन्तिम दिन तक कर निभाता है। वह स्वयं के लिये मार्ग दर्शक होता है उसे मार्ग दिखाने की जरूरत ही क्या है? तुम मुझे जो मार्ग बतलाने आये हो, उस वृत्ति पर मुझे दया आती है।

तुम भोले हो इसलिये तुम्हारे इस भय को दूर कर ही रहूँगा।

बालकों! कोई भी प्राणी अपनी वृत्ति के प्रतिकूल नहीं बन सकता। अगर हम उसके अनुकूल बन जाय तो वह स्वयम् अपने अनुकूल बन जाता है।

भय और दुःख—

ये शब्द वीरों के मार्ग में या शब्द कोष में ढूंढने पर भी नहीं मिलेंगे। जिनको के संसार मूढ़ पंडितों ने ढांक ढंक स्वत: कमजोर बना दिया है—उन भीरुओं के लिये ही निर्वस्त्र—नंगा जंगली शेर डरावना हो सकता है। पद पद पर घबराने वाले संसारी ही उसकी यातनाओं से डर सकते हैं। वीर तो स्वयं नग्न हो संसारी लज्जा और भय से दूर हो शेर की तरह एक संसारी अरण्य से दूसरे जंगल में विचरता रहता है उसे किसी से डरने की आवश्यकता नहीं। दूसरे तो स्वत: उससे डरे हुए रहते हैं।

मेरे जंगली साथी !—

तुम अपने हृदयों से मेरे कोमलांग की कल्पना छोड़ दो और मेरे कार्य का—मेरे पथ का अनुसरण करो। जंगल में रहने वाले होकर शहर जैसी बातें मत करो।

इतने शब्द सुनकर ग्वाल-बाल उनकी निर्भयता से चकित हुए और उनमें एक भी शब्द कहने की ताकत नहीं रही। वे उनके मार्ग का अनुसरण करने के लिये तत्पर हो गये।

वीर उस अरण्य में अपनी मदोन्मत्त चाल से उस बिल के निकट पहुंच गये। वहां पहुंच कर—

उसी चण्ड—कौशिक के बिल पर—ध्यान लगा कर खड़े हो गये। वह दृष्टि-विष-प्रचण्ड-कौशिक उनकी आहट सुनकर

बाहर निकला। वीर-सिंह को ध्यान में खड़े हुए देखकर विकल्प करने लगा—

'ओह ! यह कौन है ? यह कौन नीच है ? यहां क्यों आया ? ऐसा विचारते ही उसने क्रोधावेश में वीर-सिंह के पैरों पर काट खाया। इसमें विचलित हुए न जानकर क्रोधान्ध हो 'मेरी परीक्षा करने आया ! यह परीक्षक कौन है ? इसको मैं खूब फल चखाऊंगा—मजा बताऊंगा।' यों विचारता हुआ बार-बार महावीर पर जोरों से फुत्कार करता हुआ जोरों से काटने लगा। अंतमें अपना निष्फल प्रयत्न समझकर जोश मे वीर-सिंह पर झपटा लेकिन थक के हैरान होने पर निर्जीव सा हो वीर के सन्मुख पड़ा रहा।

महावीर ने यह सब दृश्य और इन प्रबल-प्रहारों के घावों को बड़ी रसपूर्ण दृष्टि से देखा। मन में हर्ष नहीं समाता था। वे इस सारी कार्यवाही को सूक्ष्म-दृष्टि से देख रहे थे और अजीब आत्मानन्द लूट रहे थे। वे दीनों पर दया करने के लिये ही तो निकले थे फिर उन्हें प्रतिकार करने को जरूरत ही क्या थी। वे तो उसे निर्बल और दयनीय भोला प्राणी समझते थे।

हां, एक बात जरुर है कि वे ध्यान-मौन थे, अतः वे करते हुए भी कुछ नहीं कर पाये थे। ध्यान एक ऐसी चीज है—ऐसी वृत्ति है—ऐसा आचार है जिससे मनुष्य अपनी अन्तरात्मा को टटोल सकता है। उसमें से एक अद्भुत रस ग्रहण कर तृप्त हो सकता है। अपने पुग्दलात्मक शरीर भावों

से आत्म-दर्शक-पथ का अनुकरण करना ही उत्कृष्ट ध्यान गिना जाता है।

मानव जब तक अपने ममत्व भाव को नहीं छोड़ेगा अर्थात् मोहनीय कर्म का नाश नहीं करेगा या ढीला न कर देगा तब तक शुद्ध ध्यान नहीं कर सकेगा। यों तो ध्यान ४ प्रकार के होते हैं :—पहिले दो, आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ क्रियात्मक होते हैं जिन के द्वारा मनुष्य दिनों दिन पतित होता जाता है और अशुभ चिन्तन और उसके द्वारा किये गये अशुभ कार्य में मानव प्रत्येक को अपना शत्रु बना लेता है। यदि किसी से राग बंध गया तो वह आगे के लिये गड्ढा ही तैयार होता है। राग से द्वेष की उत्पत्ति स्पष्ट झलकती है। जिस पदार्थ पर आज मिलने के कारण राग है वही अप्राप्तावस्था में द्वेष का कारण बन जाता है तथा एक पर राग हुआ तो अन्य प्राणियों और पदार्थों से द्वेष स्वतः सिद्ध है।

जबतक मानव प्रकृति ४ विकृति को छोड़कर आत्म-दर्शन की ओर न झुकेगी तबतक उसको सांसारिक प्रलोभन ही अच्छे लगेंगे वह स्वयं उनका गुलाम बनकर निर्दयी, भीरू और लज्जावान बना हुआ संसार भ्रमण करता रहेगा।

ध्यान, जिसको इन्द्रियों के निरोध रूप में लिया है—धर्म और शुक्ल ध्यान हैं। यही ध्यान मनुष्य के लिये आत्मोत्कर्ष का सीधा और सच्चा मार्ग है। जब तक बाह्याभिलाषा को तजकर अंतरात्मा की खोज नहीं करेगा तब तक धर्म ध्यान का ध्याता नहीं बन सकेगा।

महावीर ने जो ध्यान किया था वह बाह्य हलन चलन और घटनाओं का अनुगामी नहीं था। वह आत्माभिमुख करने वाला वीरों का उत्कृष्ट आत्मानुसंधान था। वे उस काल-व्याल को अपने ज्ञान द्वारा जान चुके थे और यह भी अच्छी तरह जान चुके थे कि वह पूर्व भव का एक उग्र तपस्वी मुनि था। जरा सी बात पर बिगड़ जाने से यह गति हुई है।

जिस समय भगवान वीर ने सर्प को थका हुआ जाना और ध्यान भंग करना चाहा उसी समय सर्प भी वीर के अटल ध्यान से संतुष्ट हो स्वात्मा में पश्चाताप कर रहा था। ऐसे परमपुरुष के लिये की हुई अपनी क्रोधान्ध वृत्तियों के लिये मन को कोस रहा था। वास्तव में देखा गया है कि जब मनुष्य क्रोधान्ध हो जाता है उस समय उसे कुछ भी खयाल नहीं रहता। वह अपने प्रतिपक्षी को हराने में ही सम्पूर्ण ताकत आजमा लेता है और विजय प्राप्त करना चाहता है। पर, यदि प्रतिपक्षी उससे बलवान 'क्षमावीरस्य भूषणम्' का अनुयायी हो तो वह अपने बल को दिखाकर अंत में पराजित हो जाता है। उसके बाद ही उसको अपने असली बल का पता चलता है। तभी वह आत्माभिमुख होने की कोशिश करता है और आत्मा को निन्दता हुआ प्रतिपक्षी की छत्र छाया में सत्य-मार्ग की गवेषणा करने को उतारू हो जाता है। यही बात सर्प-चण्डकौशिक में हुई।

वीरसिंह ने अपनी आनन्द प्रवाहिणी दृष्टि से सर्प के क्रोधानल पर वारि-सिंचन किया। महावीर की करुणाभरी सरस दृष्टि से आत्मातृप्त हो गया। वह वीर की ओर जिज्ञासु की हैसियत से टकटकी साधे देखता रहा। प्रभु ने

भी अपनी पीयूष सनित वाचा से "बुज्झ ! बुज्झ ! चण्ड कोशिया !" ऐसा कह कर उसे देशित करने लगे। वीर ने ज्ञान बल द्वारा सर्प के पूर्व भव का सारा हाल वर्णन किया। उसे सुनकर चण्डकौशिक अपनी सत्ता को प्राप्त हुआ। अन्तरात्म भाव में गमन करने लगा। उसी समय उसकी धार्मिक जागृति के साथ ही अपने पूर्व भव की स्मृति से जाति स्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया।

तत्पश्चात् और भी अपनी वृत्ति में परिवर्तन कर सरल बन कर बलराम या राम-बल-ईश्वरीयतेज की खोज करने लगा। उसके श्वास जो जहर उगलता था उसे बन्द करने का उपाय सोचा। वीरसिंह ने अवसर जान कर आगे प्रयाण किया।

सर्प ने अपनी दृष्टि और अपने श्वास को, जो कि जहर उगलते थे—रोकने के लिये अपने मुंह को बिल में डाल दिया और फुत्कारने की आदत भी हवा में उडादी। उसने महावीर की ऐसी क्षमावृत्ति देखकर अपने हृदय में उनकी मूर्ति-प्रतिकृति अंकित करली और उन्हीं के जैसा बनने के लिये निश्चेष्ट बन गया। उसने ऐसी वृत्ति बनाली कि यदि उसे कोई मारे-कूटे तो भी मन में उद्वेग न लाकर शान्ति से सहन करने में समर्थ बने। जीवों को किसी भी प्रकार का आघात न पहुंचे इसलिये उसने अपना हिलना चलना बन्द कर दिया। बिल पर मुर्दा सा बन पडा रहा।

इधर —

जो बालक बाहर गायें चरा रहे थे कौतुहल वश

महावीर की गति परखने,बात नहीं मानने के कारण खिजाने और परस्पर हास्यविनोद का विषय बनाने के लिये जंगल के अन्दर आये। ये थे भी बड़े चतुर; अतः प्रथम डर के मारे वृक्षों की डालियों पर चढ़ कर तीव्र दृष्टि से सब हाल देखा। देख कर बड़े चकित हुए और विशेष पुरुष की विशिष्ट कृति पर मोहित हो मंत्र मुग्ध से उनकी ओर दृष्टि लगाये देखते रहे। अन्त में महावीर को वहां से प्रयाण किये जान कर सब का गिरोह सर्प का बदला लेने तथा उसकी क्षमता की जांच करने को वृक्ष से नीचे उतर कर सर्प की बामी के पास पहुंचे।

प्रचण्ड-क्रोधी-चण्ड कौशिक की क्षमता की परीक्षा करने के लिये विचार किये बिगर ही उसकी मुर्दे सी हालत पर रोष कर खिजाने के लिये बोले —

दुष्ट ! तुमने हम सबको कष्ट दे रखा था और डरा डरा कर भगा देता था। यहां तक कि कोई पशु तेरे पास के वृक्षों पर नहीं आ पाता था। बसेरा करना तो दूर रहा आंख जोकर भी नहीं देख सकता था और जो भूल कर ऐसा कार्य कर लेता तो मृत्यु का शिकारी बनना था—

पर अब वह तेरी ताकत कहां गई ? 'सेर का सवा सेर' मिल ही जाता है। तू जानता था—मेरे सरीखा इस जंगल में कोई बलवान नहीं है। अब तेरा बल कहां हवा होगया ?

देखो तो !

कैसा क्षमा का पुतला बन गया है ! न हिलता है न डुलता ! न बोलता है न चलता !

उनमें से एक बोला:–भाई ! यह बड़ा ढोंगी है।

दूसरा:–इसका बदला लेना चाहिये।

तीसरा:–बदला ही नहीं वरन् खूब सजा देना चाहिये।

चौथा:–सजा क्या देना,पत्थरों से पूजा कर देनी चाहिये।

पाँचवा:–पूजा क्या करनी बस, काम तमाम कर देना चाहिये। (सब एक साथ पत्थर उठा कर उसे मारते हैं) 'ले पापी ! यह तेरे पाप का फल तू चख ले' ऐसा कहा कर जितने भी पत्थर वे मार सकते थे मारकर उसे वैसी ही हालत में छोड़ कर अपने अपने स्थानों पर चले गये। सर्प भी सब सहता रहा। अन्त में चींटियां उसे काट कर खा गई। यह है—

प्रभु का शिष्य को दिया हुआ क्षमा-पाठ—

इस पाठ की परीक्षा में शायद ही कोई सर्प श्रेष्ठ श्रेणी में उत्तीर्ण हो। वास्तव में 'जैसे गुरु तैसे चेला' वाली कहावत ठीक चरितार्थ होती है।

वीर ने द्वेषी को क्षमा से प्रेमी बनाया। प्रेमी से शिष्य बनाकर क्षमा का पाठ पढ़ाया। उसने भी उसे सर्वतोमुखी स्वीकार कर पत्थरों और चीटियोंको अनन्त वेदना शान्त भाव से सहकर क्रिया रूप से पालन कर दिखाया। अंत में मर कर शुभ गति में अमर-पद (देवत्व) प्राप्त किया।

स्वर्णकार आया था स्वर्ण की परीक्षा करने पर वह स्वयं परीक्षित हो गया। स्वर्ण की परीक्षा की लेकिन स्वर्ण ऐसा मिला कि उसने स्वर्णकार पर अपनी अमिट छाप लगा दी। यह है स्वर्णकार की असलीयत।

सर्प ने परीक्षा की खूब तपा कर जांच की कांति में कांतिधान हो खूब चमका।

क्षमा, जिसके नाम पर हम जैनी 'गौरव' करते हैं। क्या उस क्षमावीर का जरा सा पाठ भी याद किया है ? याद करना तो दूर रहा उसका यथार्थ अर्थ भी नहीं समझा इसलिये सांवत्सरिक, पाक्षिक आदि के क्षमत क्षमापना करने पश्चात् भी हृदय शुद्ध नहीं होने तो परीक्षा की बात तो कोसों दूर रही।

धन्य है उस तपो पुञ्ज को ! जिसने खुद ऐसा पाठ सीखा और सर्पों में चण्ड क्रोधी-चण्ड कौशिक जैसे सर्प को अपने सत्य परीक्षण शक्ति द्वारा परीक्षित कर सच्चा क्षमाशील बनाया और उसीका पाठ हमें उपदेश रूप में दिया।

महावीर की खूबी—

हर कार्य में सिंह की तरह निश्चल, निर्भय और निश्चिन्त मालूम पड़ती है। उनका आदर्श आज दर्शनीय है और कार्य अनुकरणीय है। महावीर स्वर्ण आज स्वर्ण—ताप से-स्वर्ण-परीक्षा से उत्तीर्ण हो आगे बढ रहा है। ऐसा स्वर्ण किन्हीं स्वर्णकारों को मिला होगा—किन्हीं परीक्षकों को प्राप्त हुआ होगा। जिनको यह प्राप्त हुआ उनका चारित्र उच्च बनाकर या उसका आदर्श सत्कान्ति से चमकार ही छोड़ा। अब आगे जीवन को विशेष चमत्कृत करने के लिये—अपने सिद्धान्तों की सक्रियता बतलाने के लिये—'परोपदेशे पाण्डित्यं' का बहिष्कार करने के लिये—सच्चा आदर्श अंकित करने के हेतु और भव्य जीवों को सन्मार्ग बतलाने के लिये 'उत्तर वाचाल' की ओर आगे बढ़े।

महावीर का ध्यानस्थ मौन

वीर आज कल के उपदेशक और प्रवर्तकों में से नहीं थे। वे कोरा उपदेश करना ही नहीं जानते थे; न उन्होंने पूर्णात्म शक्ति प्राप्त किये कोई उपदेश ही दिया था। उन्होंने सहृदयता पूर्वक स्वयं को सिद्धान्त की कसौटी पर कसा। खूब ताप और परिषह सहे। सब में खरे निकले। वे जानते थे कि जो मानव कोरा उपदेश ही देना जानते हैं और पालन करना नहीं जानते या पालन कर उसकी शक्ति को प्राप्त कर उपदेश नहीं देते; उनका असर नहीं के बराबर होता है। कोई भी प्राणी किसी प्राणधारी का आदर्शानुसरण करना चाहता और अधिकांश देखा भी जाता है। जो श्रेष्ठ मानव रत्न हुए हैं उन्होंने प्रथम अपना आदर्श जनता के सन्मुख रखा है। तभी तो उनके व्यक्तिगत उपदेश आज मानवों के हृदयों में स्थान किये हुए हैं। साथ ही सत्पुरुषों की कार्य परीक्षाओं मे भोले और वक्र मानव विश्वास करने लग जाते हैं और उनकी बातों में सरसता प्राप्त कर सकते हैं। वीर-सिंह ने आत्म तत्व की गवेषणा करने के लिये ध्यानस्थ मौन मार्ग का अनुसरण किया जिससे शत्रु उनकी वृत्ति से दंशित हो, उनका चेरा-दास बन जाता था। यहाँ तक कि सर्वस्व महावीर के लिये समर्पण कर देता था। बाजवक्त तो महावीर अन्तरात्मा में ही लगे

रहते थे। अतः बाह्य विडंबनाएं उन्हें मालूम ही नहीं पड़ती थी।

प्रथम तो ध्यान करना उनका हर समय का कार्य था ही साथ ही, मौन-वृत्ति सोने में सुगन्ध दे रही थी। मनुष्य अगर अपने शत्रु का प्रतिकार न करना चाहे तथा उसके वज्रमय प्रहार अपने वक्षस्थल पर सहने को उतारु हो जाय तो उसके लिये मौन ही एक अमोघ अस्त्र है जिसके प्रयोग से स्वात्म रक्षण और दुर्वृत्ति निवारण कर सकता है। प्रतिकार के मतलब 'शठं प्रति शाठ्यं' जैसे को तैसा (Tit for Tet) से है।

मनुष्य अपने प्रतिपक्षी को एक मारता है तो प्रतिपक्षी उसका बदला चुकाने में प्रयत्नशील होता है। जब प्रतिपक्षी मनुष्य बदला ले लेता है तो स्वयं उसका प्रतिकार करना चाहता है इस तरह का परस्पर संघर्ष-शक्ति प्रबल होकर दोनों की विनाशक बन जाती है और अनेक जीवों का संहार स्थल बन कर ही रहता है। यह है प्रतिकार की चर्या। अब हमें क्षमा की चर्या का भी अनुगमन करना चाहिये। यह ऐसी वृत्ति है कि कठोर से कठोर हृदय को भी पानी की तरह पिघला देती है।

महावीर, इसी वृत्ति को संधारण कर अपने को मौन मार्ग द्वारा विशेष पुष्ट बना रहे थे। उनको संसार में शांति का साम्राज्य फैलाना था इसलिये उन्होंने प्रतिवाद-मार्ग बन्द करने के लिये मौन मार्ग का आलम्बन लिया था। दूसरी बात यह है कि आत्म-शक्ति का विकास भी एकान्त स्थान में

या जन-समूह के मध्य में ध्यान-मार्ग के अनुगमन पूर्वक मौन मार्ग भी अधिक सहायक हो सकता है। यदि मौन–मार्ग द्वारा वाच्छक्ति का नियंत्रण न करें और दिन प्रति दिन थोथे वार्तालाप और वाग्युद्ध करते रहें तो सच्ची वाग्विद्या का वेत्ता नहीं बन सकेंगे; न उनकी बातों की कोई कदर ही शेष रहेगी। जो ऐसा काम करता है उसे कभी सद्ध्यान और सत्कर्म में लगन भी नहीं हो पाती। ज्यों ज्यों वाणी को हम खर्च करते हैं त्यों त्यों उसके विकास की जगह कर्णकटु बन जाती है तथा मानव वृन्द सुनते सुनते थक जाने के सबब से सुनने को ख्वाहिश नहीं करते और जो जितना अधिक मौन रहता है लोग उसके मुंह मे दो शब्द सुनने की चाह करते हैं। कहा भी है-"जो ज्यादा गरजता है वह बरसता नहीं और जो बरसता है वह इतना गरजता नहीं।" यही बात ठीक हम लोगों पर भी लागू पड़ती है जो बकवास करता है वह मनुष्यों के कर्णों को तृप्त नहीं कर सकता है एतदर्थ मौन मार्ग द्वारा वाक्प्रियता या सुमधुरता बढ़ाने के लिये वाग्नियंत्रण करना सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

ध्यान और मौन ये दोनों आत्मिक शक्ति और वाच्छक्ति को उन्नत बनाने में अधिक सहायक होते हैं यह भी देखा गया है जो मौन को धारण करेगा; वह आत्म-गवेषणा से वंचित नहीं रहेगा और जो ध्यान करता है वह मौन पूर्वक आत्म दर्शन करना चाहता है। चिन्तवन करने पर जो उतारु है वह मौन वृत्ति को प्रथम ही स्वीकार करता है। मौन रहित आत्मान्वेषक और ध्यान धारी बिना मौन को रद्दीति से अनुपालन नहीं कर सकता एतदर्थ दोनों परस्पराश्रित आत्म दर्शन कराने के उपाय हैं। वीर ने भी दोनों का

अनुशीलन किया। अनुशीलन कर संसार की विश्व व्यापी शांति के प्रचारकों में आदर्श बने।

कोई भी आपत्ति या उद्वेग उनको विचलित नहीं कर पाता। महावीर ने अपनी कांति को कई प्रकार के उत्कृष्ट से उत्कृष्ट ताप प्राप्त होने पर भी जैसी की तैसी बनाई रक्खी। बनाने मे मतलब पहले मे अधिक उन्नत रूप देने मे है। अपनी अमिट छाप उन उन परीक्षकों के हृदय—पटलों पर लगा कर अपने रंग से रंग दिये। यहां तक के अपने सन्मुख कुछ कहने की ताकत भी कुछ शेष न रख सके। वीर यदि उनका प्रतिकार करना चाहते तो भली प्रकार से कर सकते थे पर उन्होंने इस मार्ग को अपनाना श्रेयस्कर नहीं समझा।

वीर ध्यानस्थ मौनवृत्ति का पालन कर उकता नहीं गये थे। उनको इस मार्ग में अत्यानन्द प्राप्त होता था। वे अपने कर्मों को इस प्रकार की वृत्ति से नष्ट कर आगे के लिये नये कर्मों के आवागमन का द्वार बन्द करने के लिये प्रति दिन तत्पर रहते थे। अभी उनको अपनी शक्ति का जौहर करना बाकी है प्राणि—समुदाय उनकी इनती कठोर से परीक्षा कर भी शान्त नहीं हुआ था। वह अब भी अपने नाथ की सत्क्रियता के यश को चहुँ दिशि व्याप्त करने में लगा हुआ है। वीरसिंह के लिये 'विश्रान्ति' कोई स्थल ही नहीं है न वे विश्राम लेना ही पसन्द करते हैं। ताप सहन कर खरे स्वर्ण का आदर्श अंकित किया अब सत्परीक्षण के स्वागत के लिये दैविक—आपत्तियां भी बाट जो रही हैं।

प्रतिकार—दृश्य—

स्वर्ण-परीक्षा के पश्चात् भी वीर को प्रतिकार की अग्नि में और जलना है और विशेष कांति को प्राप्त करने के लिये हथौड़ों की मार और सहनी है। ताप की गरमी की अपेक्षा हथौड़ों की मार जबरदस्त होती है। देखते हैं वीर अब कैसे मार को भी सहकर अपने तेज को कितना आविष्कृत करते हैं।

सुदृष्ट—प्रतिकार

प्रकृति का नियम है कि 'जो जैसा करता है प्रत्युत्तर में वह वैसा ही फल पाता है'। कांटे बोकर आम पाने की इच्छा करना 'आकाशकुसुमवत्' असम्भव है। जैसा बोओगे वैसा काटोगे' यह सिद्धान्त प्रकृति के अनुकूल पड़ता है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि आम का वृक्ष लगाने के लिये या मिष्ठ स्वाद प्राप्त करने के हेतु आम का बीज बोया जाता है। कांटा बोकर कोई आम की इच्छा नहीं करता। जिस तरह से यह बात बिल्कुल अनुकूल और सत्य है तो हमें भी अच्छा कार्य करने पर अच्छा फल प्राप्त होगा और बुरा कृत्य करने से बुरा फल पायेंगे। बुरा कार्य कर अच्छे की आशा रखना व्यर्थ है। यह प्रकृति नियम क्या राजा, क्या रंक, क्या साधु क्या गुण्डा सब पर एक सरीखा लागु पड़ता है और एक समान ही फल दिखाता है। सूर्य सब पर समान प्रकाश करता है। मनुष्य कृत कामों में परिवर्तन हो सकता है लेकिन प्राकृतिक(स्वाभाविक) नियमों को बदलने में कोई समर्थ नहीं। बड़े बड़े महारथी और युद्ध-वीर पृथ्वी को कंपागये पर इस प्राकृतिक नियम से सभी हार गये।

प्रथम तो प्राकृतिक नियम ही किये कर्म का फल भुगतो ही देता है लेकिन उसमें भी कई बार प्राणियों की बदला लेने की प्रवृत्ति प्रतिकार रूप में फल भोगने को बाध्य करती है। संसार में प्रायः देखा जाता है–मनुष्य या अन्य प्राणि अपने स्वार्थ के हेतु दूसरों को कष्ट पहुँचाते हैं तो अन्य भी बदला लेने भाव जागृत होने के कारण दूने रूप में बदला लेकर ही रहता है। बड़ेरे कहते आये हैं कि–'ब्याज सहित चुकाने पड़ेंगे' इसका मतलब भी यही है कि भरपेट बदला लेने पर ही विपक्षी का क्रोध शान्त होता है।

महावीर आज गंगा पार कर सुरभिपुर आने के लिये उद्यत हैं। एक नाव में बहुत सारे लोगों के साथ भगवान वीर-प्रभु भी सवार हो गये। शकुन शास्त्री को कुछ अपशकुन सा प्रतीत हुआ लेकिन वीर–सिंह की दिव्य-प्रतिभा ने उसके दिल को तसल्ली दी।

सुदृष्टदेवरूप में जलदेव बनकर जलमध्य रहता था। गंगा के बीच-स्थलीय लहरों का आनन्द लूट रहा था। यही जीव है वह जिसको वीर ने त्रिपृष्ट भव में सिंह रूप में मार डाला था। चीर डाला था। आज उसे पूर्व भव का ज्ञान प्राप्त है। वह पूर्वभव का हाल अच्छी तरह जान चुका था। और शत्रु के प्रति वैर का बदला लेने के लिये वह बड़ा लालायित था; पर शत्रु का पता लगे तब न ?

प्रायः पूर्व भव के शत्रु को देखकर कई जीवों के हृदय में अपने आप द्वेषाग्नि जागृत हो जाती है। चाहे एक ही जीवन की कोई भी घटना ले लें या पूर्व भव में कोई भी

घटना दें तो यह निश्चय है कि जीव के पूरे इतिहास में दोनों घटनाओं का असर आगामी भव में जरूर होगा। जिस प्रकार किसी जाति, देश या धर्म का इतिहास लिखने में एक व्यक्ति के मरने के बाद दूसरे व्यक्ति का हाल सन्मुख नाचने लगता है। उनमें उन्नति और अवनति के कारण भूत जितने मनुष्य होते हैं और उनकी जो घटनाएं घटती हैं वे सब भिन्न भिन्न कालीन होती है। इतिहास लेखक सब प्रकार के परिवर्तनों को क्रमानुसार अपनी इतिहास की विवृत्ति में देता है। इतिहास में क्रम बद्ध लिखता है। यदि वह ऐसा न करे तो बुद्धिमानों का हास्य पात्र होगा। कारण ऐतिहासिक घटनाएं हमेशा अपने उत्तराधिकार पर बल डालती चली जाती है। एक जीव के इतिहास को जानने के लिये पूर्व भव की घटनाएं भी सम्बन्धित होती हैं या करनी पड़ती है बहुधा वे स्वयं भी अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ती हैं।

कई ऐसा कहते हैं कि 'हमने हमारे जीवन में कोई बुरा कार्य' नहीं किया फिर भी हम दुःख क्यों भोगते हैं। दूसरे कितने व्यभिचारी छली आदि व्यक्ति दुनियां को उठाकर भी शान्ति से मौज कर रहे हैं इसका क्या कारण है?' इसके उत्तर में इतना कहना पर्याप्त होगा कि उसकी घटनाओं का सम्बन्ध पूर्व भव में रहता है। इसीलिये हमें इस निर्विवाद पूर्व भव को अपने सम्पूर्ण इतिहास में लेना ही पड़ेगा। इस भव में महावीर उस सुदृष्ट के शत्रु थे; अतः सुदृष्ट में महावीर को देखते ही क्रोध और प्रतिकार करने के भाव एक साथ ही उत्पन्न हो गये।

वीर-सिंह शान्त हो कर नाव में बैठा हुआ था। सुदृष्ट ने

बदला लेने के लिये अपनी क्रियायें आरम्भ की। अभी तक आकाश स्वच्छ निरभ्र मालूम पड़ता था। देखते ही देखते आँधी धूली धूसरित हो प्रचण्ड रूप धारण कर लिया। खेवटिये-मल्लाह असमंजस में पड़े। उनके हाथ रुक गये। नाव मझधार में डावांडोल होने लगी। जलप्रवाह उछल कूद करने लगा। कभी नाव पतंग की तरह पानी पर उछलती है फिर धम से पानी पर आ गिरती है। कभी नाव लहरों के बीच झूले की तरह झूलने लगती है। इस प्रकार अनेक प्रकार की जल-क्रियाओं द्वारा डरा डरा कर भयभीत करने लगा।

बैठे हुए अन्य लोगों के प्राणों के लाले पड़ रहे थे पर महावीर तो अपनी ही सुगन्धी में महक रहे थे। निश्चित, निर्द्वन्द्व हो सब घटना को अन्तर्हृदय से आलोक कर रहे थे। वे इन सब अवस्थाओं में निष्फिक्र उल्लसित मुख मुद्रा से अलौकिक शान्ति बरसा रहे थे। नाव में अन्य लोग भी उन्हीं की सुमधुर मुख मुद्रा में आश्वासन प्राप्त कर रहे थे। अन्त में जब सुदृष्ट थक गया तो ये क्रियाएं शान्त कर दी।

इस प्रवृति से महावीर को कुछ भी कष्ट और ग्लानि पैदा नहीं हुई। वीरसिंह की आकृति देख कर दूने जोश से क्रोधोत्साह से वारिवर्षा शुरू की। बड़े जोरों का पानी पड़ा नाव में पानी भरने लगा। ऊर-पूर आगई। सब आदमियों की अब जीने की आशा छूट गई। नदी की धारा में नाव बही जा रही थी उसको थामने में मल्लाहों के सभी प्रयत्न निष्फल हुए। कई ईश्वर से प्रार्थना करने लगे। बहुत से चिल्लाने लगे। कितनेक रोने लगे। नाव में कोलाहल और

शोर गुल्ल मच गया। महावीर ने यह सब दृश्य भी शान्ति पूर्वक देख निभाया।

देवताने इसी प्रकार पानी में भंवरी डाल कर भी कष्ट पहुँचाया-अपना बदला लिया। मल्लाह सीधी नाव को हांकते पर नाव घूम कर चक्कर में पड़ जाती और चारों तरफ चक्कर काटती हुई चक्करी सी बन गई मानवों के प्राण सूख गये मल्लाहों को कोई सूझ नहीं सूझी। सब चक्कर खाकर नाव में अचेत हो गिर पड़े। बेभान हो गये। बड़े से बड़ा नास्तिक भी इस समय ईश्वर को याद करने लगा और प्राण दान मांगने लगा। तट के लोग भी इन दृश्यों मे हाय विलाप कर रहे थे। अपने भाग्य को कोसते हुए ईश्वर से सकुशल लौट आने की मिन्नतें मना रहे थे। अन्तिम भंवरी के दृश्य को देख कर तो बिल्कुल निराश हो गये, हताश हो चिल्लाने लगे। उन्होंने सोच लिया कि अब बचना मुश्किल है।

महावीर की दिव्य विभूति के सन्मुख बपुरे तुच्छ देव की क्या ताकत चल सकती थी। अन्त में हार खाकर प्रभु के चरणों में आ गिरा। प्रभुने उसे गुप्त भाषा में दया और क्षमा वृति धारण करने की देशना दी। देव सब स्वीकार करता हुआ अपने स्थान पर चला गया।

थोड़ी देर बाद सब सचेत हो गये। अपने साथ महावीर को निश्चिन्त खड़े देख कर विस्मय पाने लगे। महावीर जैसे प्रथम थे वैसे ही अब भी थे। उनकी ऐसी मनोवृत्ति पर बलिहार गये। वीर की सराहना की। दिव्य तेज की प्रतिमा सभी के हृदय की पंखुरी पंखुरी में समा गई। महावीर का

असली भावात्मक दर्शन किया। दर्शन के बाद ही उन्होंने अपने हृदय वीर के लिये अर्पण कर दिये।

नदी पार पहुंचते ही वीर की जय ध्वनि हुई। जय गान हुए सब वीर के साथ ही सुरभिपुर में पहुंचे। वहां फिर नमन कर अपने अपने स्थान पर गये। शहर भर में वीर विभूति के वार्त्ताचित्र अंकित हो ही गये। सभी के सन्मुख वीर की मूर्ति नाचने लगी। वास्तव में सत्पथानुगामी के कंटक आते हैं पर वे अपना परिचय देकर उनके लिये ही नहीं औरों के लिये भी कमल के समान बन जाते हैं। यह है वीर का पथ।

सह-प्रतिकार

महावीर प्रभु वहां (मुरमिपुर में) जुलाहे की चतुर्मास को विनती स्वीकार कर जुलाहे के यहां चतुर्मास बिताना निश्चित किया।

हमारे पूर्वजों के कार्यों को देखना ही हमारा फर्ज नहीं लेकिन उन्हें अपना कर जीवन मय बना देना! अपनी जिन्दगी को उनके लिये अर्पण करने के बराबर है। अतः कार्यानुसरण करना श्रेयस्कर है।

जुलाहा एक नीची कौम का व्यक्ति है। वीर के लिये नगर में बहुत लम्बे चौड़े स्थान थे! पर उन स्थलों पर निगाह न कर दीन-बन्धु बनने के लिये वे आज जुलाहे के यहां चातुर्मास करने जा रहे हैं।

वे यह भेद हृदय तक जाने नहीं देते कि "मै व्याख्यान देकर अच्छी तरह पूजा-पात्र बनूं जो जो कार या जय-जय कार के लाभ मे तोषित होऊं तथा आरामदायक स्थल पाकर अपने दिन व्यतीत करूं।" वे वीर थे। उनके लिये नीच ऊंच सब बराबर थे। न एक मे द्वेष करते न दूसरे मे प्रेम। उनको अपनी आत्म-प्रकृति की प्रगति के करने के लिये एकान्त स्थान और भोली प्रकृति वाले जुलाहे जैसे

व्यक्ति के यहां ही अपनी प्रवृत्ति करना पसन्द आई थी। गुण-गवेषक और आत्मान्वेषक दोनों सदा शान्त प्रकृति की खोज में रहते हैं। उनको लौकिक पूजनीयता प्रिय नहीं लगती। उनके तप और ध्यान के लिये जुलाहा जैसे पटकार से ताने और वाने की अर्थात् आत्मतंत्री के सम्यग्ज्ञान और चारित्र के धागों से केवल्य—पट की बुनावट की कारीगरी का गहन अभ्यास करना था। बाह्य-प्रवृति द्वारा आन्तरिक प्रकृति सुलझाना यह इन जैसे विशिष्ठ वीरपुरुषों की मार्ग-सरणि होती है। सच्चा ताना और बाना का उपदेश कर जुलाहे को सर्वश्रेष्ठ केवल्यपट बनाने का मार्ग बनाना या ढंग सीखाना भी उन्हीं के लिये योग्य हो सकता है।

चतुर्मास पूर्ण होने पर महावीर विचरते हुए राज ग्रही नगरी में आये और पारने के लिये विजय सेठ के यहां घूमते हुए जा निकले। वहां पर कुशल गोशाला नाम का एक ब्राह्मण उनकी भिक्षा-वृत्ति का ढंग और उनके दिव्य तेज से आकर्षित हो उनके साथ हो लिया वहीं वह उनका चेला बनने की उमंग से साथ रहने लगा।

प्रथम—प्रतिकार—

एकदा वीर-की ज्ञान-परीक्षा के लिये भोजन प्राप्ति सम्बन्धी प्रश्न पूछा कि "मुझे आज कैसा अन्न मिलेगा" वीर ने उसके उत्तर में खराब अन्न मिलने को कह दिया। वह गोचरी करता करता कई घर फिर गया। उसने बहुत कोशिश की कि उसे अच्छा अन्न प्राप्त हो और उसकी प्राप्ति से महावीर के उत्तर को झूठा करे; पर जिन्होंने तीनों को सामान्य जानने का अवधिज्ञान तथा कालज्ञान प्राप्त कर

लिया है क्या चूक कर सकता था ? वह बड़े बड़े स्थानों पर गया, पर कहीं पर भी श्रेष्ठ अन्न प्राप्त नहीं हुआ। अन्त में ख़राब अन्न लेकर ही अपनी उदर-पूर्ति की। इसकी सत्यता से वह उन पर विशेष आस्था रखने लगा। और उसे उनके शिष्य रूप में रहने की इच्छा जागृत हुई, लेकिन महावीर शिष्य किसको बनाने लगे ? प्रथम उन्हें कोई शिष्य की चाह ही नहीं थी उस पर भी गोशाला योग्य प्रकृति का नहीं जंचता था।

महावीर तो अपनी चाल में मस्त थे। 'चालरे अकेलो चालरे' की धुन में ही व्यस्त थे !!

यद्यपि गोशाला को महावीर ने शिष्य नहीं बनाया फिर भी उनका संग उसने नहीं त्यागा।

कहां शिष्य बनने के अत्युत्कट अभिलाषी आजकल के मुनिवर वर्ग और कहां उनका परम पिता वीर ?

गोशाला साथ हो लिया था उनके जैसे ऋद्धि प्राप्त करने के लिये न कि कष्ट सहने के लिये। कष्ट सहने में वह पस्त हिम्मत था।

द्वितीय—प्रतिकार—

एक बार विचरते विचरते ब्राह्मण गांव में महावीर के अभी के प्रश्न की जांच करने के लिये; नंद और उपनंद के यहां भिक्षा-वृत्ति करने के लिये गया वहां पर बासी भात पाकर क्रोध से लाल हो गया। उस क्रोध का दुरूपयोग उपनंद की झोंपड़ी जलाने में किया। बात भी ठीक है दुष्ट

आदमी अपनी प्रकृति से ही दुष्ट होता है। और वह उसीसे लाचार होता है। सज्जन की संगति फलदायी तभी हो सकती है। जब कि उसी दुष्टता का अन्त नजदीक हो। जहां परीक्षा करने और बराबरी करने का नाता होता है; वहां शिक्षण का असर नहीं होता।

आज गोशाला वीर का चेला बनने जा रहा है पर उनकी अन्त तक सेवा क्या इसी प्रकार करता रहेगा? वास्तव में वह शिष्य बनने के योग्य भी नहीं था।

चम्पापुरी में तृतीय चातुर्मास पूर्ण होने पर भगवान् कुम्हार गांव में कूपन कुम्हार के यहां ठहरे।

प्रश्न:—भगवान कुम्हार, जुलाहा आदि के यहां ही क्यों ठहरते हैं? क्या सेठिया और उच्च पद वाले आदमियों से वे असंतुष्ट तो नहीं थे?

उत्तर:—कारण सिर्फ यही था कि वीरसिंह को मान पूजा और बड़ाई की कोई दरकार नहीं रहती; वह तो सिर्फ स्व-स्वरूप में मस्त था। वह जहां चाहे वहीं अपनी ध्यान स्थल बना लेता है।

कूपन कुम्हार का अहोभाग्य था कि जहां पृथ्वी का सृष्टा, सच्चा पथ प्रदर्शक, मोक्ष का विधाता, सच्चा प्रजा-पति प्रजापति के यहां आकर ठहरा। और प्रजापति को सत्य शिक्षण द्वारा आत्म—घाट की बनावट की कार्य-शैली सीखाने के लिये सत् प्रजापति प्रजापति से मिले।

कुम्हार का कार्य संसार के घड़े आदि वर्तन बना कर संसार की कार्यवाही को चलाना था। अब उसे आत्म-घट की तैयारियां करना है। इधर आत्म-घट को वापरने वाला

वीर ही उसका परीक्षक और शिक्षक बना है। अब कैसे शिक्षण होता है यही देखना है।

महावीर ने जैसे पटकार कुम्हारे के यहां चतुर्मास में आत्म-पट की शिक्षा ली और दी थी, उसी प्रकार मृद्घट से आत्म-घट बनाने का शिक्षण कुम्हार घर रहकर स्वयं लिया+ और कुम्हार को भी वहां शिक्षण दिया।

महावीर हमेशा अपनी चाल नहीं छोड़ता उसे निर्भय हो छोटे प्राणी में ऊंचे भाव भरकर उनको ऊंचा बनाने की श्रेष्ट नीति प्रिय थी। कुम्हार भी एक नीची कोम का होता है; पर भगवान ने, इसकी परवाह न करते हुए पतितोद्धारक का विरद या पण निभाने के लिये कूपन कुम्हार का घर ही श्रेष्ट लगा था।

कूपन कुम्हार अपने घर में प्रकाश करने वाले दिव्य तेज की फिराक में था; वह उसे आ भी मिला है। महावीर के पतितोद्धारक विरद ही वेदान्त नीति को सरल बनाने का प्रथम और द्वितीय प्रयोग था।

तृतीय—प्रतिकार—

महावीर कूपन कुम्हार के यहां और चन्द्राचार्य (पार्श्वसंघ के मुनि सहित) मठाथ में अपने दिन बीता रहे थे। गोशाला, शिष्यत्व की हौंस भरने वाला अपनी प्रवृति से लाचार था। चन्द्राचार्य के शिष्य से जा डटा। उनके रंगीन वेष पर लम्बी चौड़ी सुनाने लगा। साधू अपनी सृजनता और दुष्ट अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता उसी तरह चन्द्राचार्य के शिष्य सब अपशब्द सहे रहे पर गोशाला जर

भी शिक्षित न बना। ऊपर से रहने का स्थल भी जलाने का निदान किया।

क्या महावीर ऐसे शिष्य रख कर बदनाम कराते। शिष्य तो वह था ही नहीं न कोई दिक्षित ही था। सिर्फ उसने अपने को ऊंचा करने और नाम कमाने के लिये महावीर का साथ पकड़ लिया। महावीर को ऐसे साथी से बदनाम और बुराइयां सहनी पड़ती थी। यदि किसी मुनि का साथी होतातो उसको वह सीधा कर देता। महावीर क्षमावीर हैं—वे सत्यशोध में लगे हैं। वे तुच्छ के साथ तुच्छता नहीं करना चाहते। इतने कठोर से कठोर प्रतिकार मिलते रहे जिसमें अपने हाथों, अपना शिष्य बनने के इच्छुक, स्वधर्म के साधुओं को भला बुरा सुनादे, यह कितना हृदय विदारक दृश्य था। फिर भी महावीर ने शान्ति का अनुगमन किया। महावीर अपनी निर्भय चाल से दूसरों के सन्मुख अपनी कातरता अंकित करना पसन्द नहीं करते थे।

चतुर्थ—प्रतिकार—

एकदा चोराक ग्राम के निकट वीर के साथ गोशाला भी विचरते हुए पकड़े गये चोर की हैंसियत से पकड़े गये दोनों एक कुए के अन्दर लटका दिये गये। वहां गोशाला को औंधे मुंह लटके रहने का परिषह कहां सहाजाने लगा। वह कुए के भीतर जोर जोर से चिल्लाने लगा। महावीर को भी साथी बनने से छुटकारा कहां मिला वे भी औंधे कुए के अन्दर लटके हुए ध्यान में मस्त थे और बाह्य वेदनाओं को शान्ति पूर्वक सहन कर रहे थे। महावीर का यह सहप्रतिकार जबरदस्त हुआ वीरसिंह अकेला ही होता तो उसे

किसी की पकड़ने की ताकत भी आगे नहीं बढ़ती और न वे उन्हें चोर ही समझ सकते थे। कोतवाल ने रात्रि के समय बिना पहिचान के दो चोरों की खबर के अनुसार दोनों को पकड़वा कर खूब मजा चखाया।

गोशाला महावीर पर कुढ़ने लगा और मन में भला बुरा कहने लगा। उनके साथ के दुष्परिणाम को बार बार दुहराता हुआ जोर जोर से खूब चिल्लाने लगा। महावीर आज शठ की संगति मे कष्ट झेल रहे हैं। प्रथम तो दो चोरों की खबर में अकेले महावीर को कोतवाल पकड़ भी नहीं सकता और दूसरी बात गोशाला की धूर्त बातों ने ही तो ये सब क्लेश तैयार किये थे। फिर भी महावीर को कोसे बिना नहीं रहा और भली बुरी कहता रहा।

दैवयोग से दो साध्वियाँ आ निकली। उन्होंने यह आवाज सुनकर बहुत विस्मय किया। कुए के पास आकर देखा, कोई दो आदमी अन्दर लटकते हुए दिखाई दिये। एक के मुंह पर शान्तिऔर कांति अपना बल अर्पण कर रही थी। दूसरी ओर अशांति अपनी गोद में खेला रही थी। साध्वियों ने महापुरुष की दिव्य कांति से असली रूप जान लिया। वे कोतवाल के सन्मुख गई और उन्हें सही हकीकत कह सुनाई।

कोतवाल ने आकर उसको उसी रूप में देखा, तो डर कर झट से बाहर खिंचवा दिये। वह वीराकृति देख कर पैरों पर लौट लौट कर क्षमा मांगने लगा। महावीर तो ऐसी बातों पर खयाल ही नहीं करते थे। फिर उनका क्रोध करना कब फब सकता है? जहां क्रोध या दुष्परिणाम नहीं

वहां क्षमा देने लेने की कोई कल्पना नहीं उठ सकती। जो स्वयं क्षमामय है। उसने सदैव क्षमा-प्रदान कर सब को सुखी बना रक्खे हैं। जहां रागद्वेष नहीं वहां हमेशा क्षमा का वास रहता है।

जैसे तैसे वहां से महावीर चम्पा की तरफ आगे बढ़े। चम्पा नगरी में 'चतुर्थ चतुर्मास' पूर्ण किया। इस चतुर्मास मे तपश्चर्या और ध्यान ये दो पर ही उनके आकाश गमन में सहायक होते थे। वे पृथ्वी से इनकी सहायता से अलौकिक आनन्द-प्रवाहिनी आकाश-सरीर में अपने अनन्त सौख्यों को कल्पना के परे विश्रांति दिखाते रहे।

पंचम–प्रतिकार—

अभी सह-प्रतिकार का अन्त नहीं हुआ था। बड़ा भाग शेष था। छुटकारा पाने पर गोशाला पर कोतवाल की नम्रता और महावीर की मुख-मुद्रा का फिर असर पड़ा और वह पीछा साथ ही साथ चलने लगा।

विचरते हुए कृतमंगल नामक पाखण्डी बस्ती (गांव) में आ पहुंचे। रात को महावीर की देखा देखी गोशाल भी मन्दिर के एक कौने में ध्यानस्थ हो खड़ा हो गया। रात का वक्त नजदीक आ लगा। सब पाखण्डी मन्दिर में इकट्ठे हो गये। पहिले पाखण्डी ने आते ही शराब के नशे में मूर्तिजी को खूब अच्छी तरह पकड़ कर हिलाना शुरू कर दिया पर मूर्तिजी के हाथ में न आने के कारण और गोशाला रूपी बड़ी मूर्ति को हाथों हाथ स्पर्शन करने के कारण उसने मूर्तिजी की ऐसी शक्ल देख कर वहां से यों को यों उठाकर

लोगों की बैठक के बीच में ला डाली। अब क्या? शराब के नशे में सब के सब लोग भगवान के हाथों से और पैरों से पूजा करने लगे। कोई हाथ खींचे, कोई पैर खींचे। भगवान के असली रूप को जानकर ऐसा वर्ताव करना सहज है।

"भगवान के दर्शन कई दिनों मे मिले। आज हम इनको नहीं छोड़ेगे" ऐसा विचार कर गोशाला को खूब तंग करने से, हाथों पर उठा ऊँचे फेंकने से तथा गोद में एक दूसरे के हाथों के फैलाने से उसको हड्डी हड्डी ढीली हो गई। गोशाला महाशय चिल्लाने लगे—"मैं नहीं, भगवान् मैं भगवान् मैं नहीं, नहीं, नहीं मैं भगवान् ! नहीं हूँ" इतना कहने से मूर्खों ने भगवान् की बोली सुनने जैसी कल्पना की। उसकी बोली सुनने से उनको यही जाहिर हुआ कि "भगवान् ऐसे नहीं मानेगे। इन को तो सीधा ही करो। क्योंकि बिना मांगे मां भी नहीं देती है। बिना पूजे देव नहीं देते और ईश्वर तो सीधे बनाये बिना सुनते भी नहीं। वे तो बड़े बड़े ऋषियों के तप करने पर भी नहीं मिलते। इतने कठोर है इनको तो अपन सब ही सीधे करेंगे।"

अब क्या ?

कौन किस को सुने सब धमाधम—छमाछम और धमाधम मारने लगे। बहुतेरों ने गुस्से में आकर उसको ऐसा फेंका वह चौक में जा गिरा।

बपुरे की दीन-दशा खराब थी। चिल्लाते हुए भी किसी ने पुकार नहीं सुनी गिरते ही अचेत हो गया। थोड़ी

देर तक अचेत अवस्था में ही पड़ा रहा। सचेत होने पर वह फिर अपनी जगह पर उठ कर जाने लगा उस वक्त सब लोग भगवान की खुशी में उछल कूद कर रहे थे। गोशाला को यह तमाशा बड़ा बेढब मालूम हुआ। वह हंस पड़ा और उनकी ओर अंगुली बता कर चिढ़ाने लगे। लोगों ने दूसरी बार और अच्छी तरह सीधे किये। गोशाला शिक्षित बन अन्त में घबरा कर हैरान हो गया। रात्रि का अवशिष्ट भाग बीतने पर वीर प्रभु ने सुबह में विहार कर दिया।

यह सब दशा महावीर अपनी अन्त दृष्टि से अवलोक रहे थे। फिर भी अपने ही हाल में मस्त थे। गोशाला बहुत कूढ़ा, फिर भी धैर्य्य धारण कर आगे बढ़ा। चलते चलते हरिद्रा गांव के निकट पहुंचे और वहीं ध्यानस्थ हो खड़े हो गये। उस वक्त एक व्यापारी भी रात्रि हो जाने से वहीं इन दोनों को देख कर आ ठहरा। वह रात्रि भर अग्नि जलाकर बैठा रहा। वह सुबह को रवाना हो गया पर अग्नि को बुझाना भूल गया।

षष्टम–प्रतिकार—

अग्नि को वीर–पुरुष को छूने का अच्छा अवसर मिला। महावीर के पैरों को छूने के लिये अग्नि आगे बढ़ आई यहां तक कि महावीर के पैर जलने लगे। लेकिन वीर अग्नि की आताप से जरा भी विचलित न हुए। गोशाला तो घबरा कर दूरा जा निकला।

वीर का ध्यान पूर्ण हुआ जान गोशाला ने कहा– "भगवान् यह क्या कर रहे हैं? क्या आपके पैरों का भी

आपको कुछ खयाल नहीं रहता ? आपके पैर जल गये हैं। इतने इतने दुख सह कर अब और क्या करने का है ?

तीन ज्ञान हैं जो धारते हैं वही होता है। अब आकाश पाताल फोड़ने का और शेष रहा है ? ऐसे बेफिक्र कि शरीर का भी कुछ भान नहीं !

वाहजी, वाह ! क्या ऐसे ही अप्रमादी बनने जारहे हैं ?"

ये बातें महावीर ने सुनी। वीर उसे क्या कह सकता था। वे तो प्रथम ही उसे जान चुके थे। फिर भी कह ही दिया।—'अभी क्या किया है ! वीरों के लिये आकाश फोड़ना और पाताल में घुसना कोई बड़ी बात नहीं हैं। वीर तो हमेशा अपने शरीर क्या मन की भी परवाह नहीं करते। कायर ही पराधीन होता है। वीर तो सब जगह, सब वक्त आत्मानन्द लेने के सिवाय और कुछ भी नहीं करना चाहते। जिसको मजा जिस बात में आ जाता है वह कभी उससे दूर होने की कोशिश भी नहीं करता। कायर बन कर मेरे साथ मत रहो। शूर बन कर सब वहन करो।"

गोशालाजी सुन सुना कर चूप रहे और साथ ही साथ विहार कर दिया। प्रभु आगे आगे विचरते रहे। वह भी साथ ही साथ विचरता रहा।

सप्तम—प्रतिकार—

आपत्तियां आये बिना परीक्षण भी नहीं होता। भगवान कलंबुक ग्राम की ओर जा रहे थे। रास्ते में वहीं के राजभ्राता ने दोनों को बदमाश समझ कर पकड़वा लिये। मूर्ख मणि की पहिचान क्या करे ? हीरा गरीब के लिये

मृत्यु स्वरूप ही है। सूर्य अन्धे के लिये तम–प्रसारक ही है। इसी तरह राजभ्राता और अन्य लोग न पहिचान सके तो इसमें कोई बड़ी वीर विशिष्टता नहीं घटती।

एक राज–सेवक ने, जो कि संसारी भगवान के पास रह चुका था, उन्हें भली भांति पहिचान लिया। महावीर से राजभ्राता ने क्षमा मांगी और दोनों छोड़ दिये गये। गोशाला महाशय वीर की प्रवृत्ति से तंग आ चुका था। गलेतक भर गया था। अतः अब अलग मार्ग निकाल चलना पसन्द किया।

महावीर का संगी भी ऐसा ही मिला, जिसने कि अपनी दुर्वृत्ति का ही परिचय दिया। सांसारिक लोलुप्सु और ममत्वी लोग अत्याचार को क्या जान सकते हैं? जो भगवान को अपने इच्छित फल की चाह में ही मोल लेना चाहता है और कार्य सिद्धि के लिये भेंट आदि चढ़ाकर खुश करना चाहता है, तो उसे मूर्ख के सिवाय और क्या कह सकते हैं?

सांसारिक लोग ईश्वर भक्ति केवल स्वार्थ के लिये करते हैं। इसी तरह गोशाले का स्वार्थ भी तत्प्रवृत्ति में कोन्हीं अंशों में पूर्ण हुआ; पर असली मार्ग प्राप्त न कर सका। यशेच्छु ने भगवान का सत्यगवेषक कठिन मार्ग छोड़ कर अपने अनुकूल प्रवृत्ति करना आरम्भ कर दिया। इस तरह गोशाला प्रभु का संग छोड़ कर विमुख बना। यही है सह-प्रतिकार! सत्यप्रतिकार!! और प्रत्युपकार!!!

प्रतिकार:—प्रतिक्रिया, प्रत्याचार और बदला लेने के अर्थ में आता है।

विजयवती–प्रतिकार

भगवान वीरसिंह के पूर्व भव के किये हुए कार्य आज बदले रूप में सन्मुख आ रहे हैं। यों तो एक ही जन्म में बदला चुकाने का मोका मिल जाता है और कभी कारण वशात् न मिल सके तो इतिहास के पूर्व भव-उत्तर भव रूप अवस्था के जीवन में आ ही घटते हैं।

बुरा कार्य करना सरल, पर प्रतिकार झेलना कोई ताकत रखता है। एक व्यक्ति किसी एक को मारकर सन्तुष्ट हो जाता है, पर उसे यह न समझना चाहिए कि इसका प्रतिकार अब क्या मिलेगा? जहां हम एक बार रंग चढा देते हैं और उसी रंगीन कपड़े के परदे में रहकर साफ सफेद रंग की चीजें देखना चाहें तो कभी भी ऐसा देखना मयस्सर न होगा। इसी तरह जैसा कार्य करेंगे उसका उसी रूप में प्रतिकार मिलेगा।

भगवान से गोशाला विलग हुआ। भगवान को आते समय भी हर्ष नहीं था न वियोग के समय में दुःख। उनको गोशाले से कोई सेवा तो करानी ही नहीं थी न वे शिष्य ममत्वी ही थे। ममत्व तो दूर रहा पर शिष्य को दीक्षा भी नहीं दी थी। महावीर प्रथम तो किसी पर राग द्वेष करते

ही न थे फिर उन्हें गोशाले के संग से राग और प्रतिकार तथा वियोग मे द्वेष भी क्यों कर होता।

वीरसिंह ने आगे बढ़कर भद्दिलपुर में पदार्पण किया। वहीं एकान्त में चतुर्मास की पूर्ण तपश्चर्या कर पांचवा चतुर्मास बिताया।

तपश्चर्या वह चीज है जिसके द्वारा अपने शरीर को सुखाते हुए आत्म तेज प्राप्त कर सकते हैं। जब तक इन्द्रियां विकल नहीं होती तब तक इन्द्रियरमणता में ही सौख्य मानते हैं। इन्द्रियां को दमन करने में तपश्चर्या, अभिग्रह आदि बहुत सहायक होते हैं। इसका विशेष विवेचन आगे को होगा। भद्दिलपुर का चतुर्मास पूर्ण करने के बाद ग्रामानुग्राम विचरते हुए शालि शीर्षनामक गांव की ओर आगे बढ़े। वहां के बगीचे में जाकर ध्यानस्थ मौन-वृत्ति को धारण की।

महावीर के बदलों से इस जन्म में छुटकारा होने का है। पर छुटकारा होना भी कोई सहज बात नहीं है जहां अपने साधारण काम में भी किसी का सम्बन्ध विच्छेद करते हैं या उसका नाता तोड़ते हैं। उस वक्त जितना भी अपना व्यवहार होता है वह सब बन्द करना पड़ता है। उसके बन्द करने में हमें किन किन मुसीबतों तथा परस्पराश्रित कर्मों के परिवर्तनों का सामना करना पड़ता है कि उससे कण्ठ तक दुखी हो जाते हैं। सम्बन्ध करने में जितनी मेहनत नहीं पड़ती उससे असंख्यात गुना टूटने में दुःख होता है। बदला तो छुटता नहीं दूने चौगुने रूप में आ खड़ा होता है। यही बात महावीर पर भी बीती।

जिस बगीचे में वे ध्यान कर रहे थे। उसी बगीचे में एक व्यन्तरी रहती थी। उसका नाम विजयवती था। पूर्व त्रिपृष्ट-भव में विजयवती पत्नि-रूप में थी। इसको उस भव में महावीर ने बहुत कष्ट दिये थे। उस भव में सब कष्टों को पराश्रित होने के कारण सहना भी पड़ा; पर उसका वैर लेना भूल थोड़े ही गई थी। भाग्य से देव भव मिल गया। और उसने पूर्व भव की तमाम हिस्ट्री जान ली। संयोग भी ऐसे ही आ मिलता है। जैसे अपने किसी प्रेमी के वियोग स्थल पर जाने से अश्रु पात हो जाता है या पूर्व स्मृतियां दिल में रंज पैदा कर देती हैं। उसी तरह उस स्थान की प्राप्ति से ही या उस व्यक्ति की हाजरी में (उपस्थिति) ही वैर भाव जागृत हो गये। अतः उस व्यंतरीने महावीर से बदला लेने को विचारा।

अहा! क्या समय है हमेशा दुःख सुख का जोड़ा है और दुःख के बाद सुख तथा सुख के बाद दुःख सब को मिलता है। महावीर को इन जोड़ों से क्या मतलब? उन्हें तो दुःख ही दुःख, और विपत्ति पर विपत्ति आ घेरती है!

यह क्या?

बार बार किसी पर धारावाही कष्ट है या प्रतिकार पर प्रतिकार? प्रतिकार भी एक का हो तो ठीक है पर यह तो एक के बाद एक अपने वैर की पूजा किये बिना चुप नहीं रहता। भाइयों! कर्म किसी का सगा नहीं है यह तो देव या पृथ्वी-धर और पृथ्वीचल नरों को भी नहीं छोड़ता है। महावीर क्या नन्हें थे? पर उन्हें भी इन यातनाओं का सामना करना पड़ा।

रात्रि का विकट समय था। अर्ध-रात्रि व्यतीत हो चुकी थी। रजनिचरों के सिवा सब संसारी सुप्तावस्था में मग्न थे किसी को दर्द या दुःख देने का इस समय मोका ही न पड़ता था। सर्वत्र अन्धकारमय काली रात्रि शान्ति के लिये हुए पसर रही थी। निविड़ अन्धकार में कौन किस को देखता है महावीर भी अपनी निश्चल वृत्ति के अन्दर आगे और आगे पैर दे रहे थे। ज्ञान चक्षुओं के दिव्य-प्रकाश से आलोकित हो रहे थे। उन्हें बाहरी परिवर्तन सब खयाल में थे। पर वे ध्यान दें ही क्यों ?

शीत काल समय था। शीत अर्द्ध-रात्रि का संग मिलने से और भी प्रफुल्लित प्रसर रही थी। सब लोग गुदड़ियों में सो रहे थे। गरीब सीसक रहे थे। साधु अग्नि के पास पड़े थे। सब अपनी रक्षा के साधनों मे सने हुए थे। पर महावीर को साधन की क्या आवश्यकता महावीर के आकाश तो अम्बर था। पृथ्वीतल, ध्यानस्थ भूमि थी। अन्धेरी रात्रि ही प्रकाश का साधन था और शीत ही उनकी गुदड़ी थी। फिर वे शीत देवी की गोद में खेलने से क्यों हिचकते ?

देखते ही देखते व्यन्तरी ने शीत देवी का आह्वान किया। बगीचे में वृक्षके पत्ते पालासी ठन्ड पड़ने से जल कर सूख गये। सर्वत्र हेममय जलस्थल बन गये। महावीर का शरीर भी ठन्डक से काला और कृषित चर्म वाला मालूम पड़ता था लेकिन मुंह पर विकार दुःख या सीसकने का शब्द ही नहीं। उनको तो वही अनन्त की प्रवृत्ति भा रही थी। उसी में अपने को (ममत्वको) खो दिया था फिर यातनाएँ आ भी जायं, तो हंस मुख सहते रहें। यही है वीरों का वीरत्व।

प्रथम तो शीतकाल, उस पर मध्यरात्रि का शीतकाल और उससे भी बढ़कर ठन्डी वयारिप्रवाह द्वारा व्यन्तरी उनको कष्ट दे रही थी। जहां शीत मे डर कर हम ओढ़ कर बैठ जाते हैं मध्य रात्रि में चिपक कर विस्तर पर सो जाते है। वहां वीरत्व की कल्पना कहां ? धन्य है। ऐसे वीर-नररत्न को !! शीत वहन करने वाले को !!!

देवी अपने बलका असर उन पर न पड़ता हुआ देखकर अधिक लाल हो गई अब उसका क्या ठिकाना ? मन आया वही किया।

संसार के अधीरों ! और अमीरों !! दोनों देखो, महावीर के अमीरत्व को !!! राज का दुलारा प्रजा की आंख, सुकोमलांग, गौरवर्ण, किस प्रकार ऐसी आपत्तियों को वहन कर रहा है ? जरा मे दुःख मे घबरा जाते हो-रो पड़ते हो। भाग्य को कोसते हो। संभलो ! और देखो, कि क्या प्रहार होता है ?

उस व्यन्तरी ने अब ओलेमय बरसात बरसाना शुरू किया ! कहां तो महावीर का कौमार्य कहां शीत-देवी का त्रय गुण प्रकोप ? उस पर भी ओले वर्षा ? ऐसे वैसे आदमी होवे, तो प्राण पूरे हो जायं। उनके सरीखे देहवाला भी कभी वहन नहीं कर सकता वे ध्यानस्थ मुनि थे। वे बाह्य यातनाओं को तुच्छ समझते थे। जिस प्रकार हमारे दुःख को दुःख न मानकर प्रसन्न वदन सहें तो हमें दुःख कम मालूम पड़ेगा पर दुःख से व्याकुल हो कर सहन करेंगे तो जरासा दुःख भी बहुत मालूम पड़ेगा और सहन में असमर्थ बन जायंगे उस महावीर का वीरत्व इसी में था कि वे इसको तुच्छ

समझें। ऐसा करने से वे इतने बड़े भारी प्रतिकार को भी शान्ति पूर्वक सहन कर सके।

विशेषता यह है कि वे प्रयोग सुबह तक एक से एक बढ़कर चलते रहे। जितनी व्यन्तरी की ताकत थी उतना क्रोध महावीर पर कर दिखाया। आखिर हिंसा का प्रयोग अहिंसा के सन्मुख कहां तक टिक सकता है? हिंसा की पराजय हुई वैर से पीछा छुटा। क्षमा की जय हुई। महावीर की व्यन्तरी की दुष्ट प्रवृत्ति पर विजय हुई। व्यन्तरी भी थक कर सभय बनी। इस वास्ते महावीर के सन्मुख नत सिर हुई।

व्यन्तरी व्याकुल बनी। सुबह होते ही वीर के शरीर की दशा बिलख बिलख कर पश्चाताप करने लगी। अहो! मैंने यह क्या किया? मुझे अब कौनसी यातना का भागी बनना पड़ेगा? एक दिव्य तेज धारी पुरुष पर मेरी ऐसी दुष्टता कहां तक क्षमा हो सकती है? इस तरह बहुत प्रकार का विचार विकल्प करती हुई चिन्ता और पश्चाताप के सागर में डूबने लगी। यहां तक कि वह महावीर के पैरों अपने असली रूप में लौटने लगी।

महावीर का ध्यान पूर्ण हुआ। ध्यान पूर्ण होते ही अभी-रस की एक धार उस चिन्तित हृदय पर पड़ी, चिन्तित हृदय विस्मित और निर्भय बना। आनन्दित हो, नेत्र की दृष्ठि रूप मधुर-पय का आस्वादन करने लगा। महावीर की आंखें स्वयं तेज बरसा रही थी। देवी तो उसी तेज से तृप्त हो गई। इतना ही उसके लिये बस था। वैर का संबंध टूटा अब नाता प्रेमी का हो गया। द्वेष घर छोड़ कर भाग

गया देवी ने वीर से क्षमा मांगी वीर तो क्षमा स्वरूप ही थे। उन्होंने एक बार उसकी आंखों को पिलादी थी, अतः ज्यादा कहने का भी नहीं रहा। दोनों हृदय उल्लसित बन गये। यही है तेजस्वी का तेज।

व्यन्तरी थोड़ी देर बाद दृष्टि से बाहर हुई। समय देखकर महावीर ने भी विहार कर दिया।

भगवन् भद्रिकापुरी में पधारे। वहां पर गौशाला फिर उनके तप तेज की अक्षुण्ण प्रतिमा से मोहित होकर अनेक कष्ट सहता हुआ आ मिला।

वहीं से फिर साथ साथ विचरने लगे। छटा चतुर्मास भी यहीं पूर्ण किया। यहां से विचरते हुए साल भर कोई विशेष परिषहों के सिवाय दैविक आपत्तियों का सामना नहीं करना पड़ा। साल भर शान्ति पूर्वक विताया। सातवां चतुर्मास आलम्भिका के एकान्त स्थल में ध्यानस्थ हो विताया। वहां से विचरते हुए बहुशाली नामक गांव में पदार्पण किया। वहां पर वही दैविक आपत्ति सिर पर सवार थी। उस गांव के नजदीक शाली वन नामक एक उपवन था। वहाँ पर महावीर ध्यानस्थ हो खड़े रहे।

आलार्मा-प्रतिकार

वीर के पूर्वोपार्जित कर्म और प्रवृत्ति इस जन्म में फल फूल कर सन्मुख आ रही है। उसी को जैन धर्म 'विपाकोदय' नाम से पुकारता है। उनके कर्मों का विपाकोदय था—अब फल परिपक्व हो चुके थे, उनका आस्वादन भी तो करना पड़ता है।

शालार्मा व्यन्तरी पूर्व भव के वैर को न भूली थी। वह भी उसी स्थान पर रहती थी जहां महावीर ध्यान लगा कर खड़े थे। 'काकतालीय' न्याय मे वीरसिंह की उपस्थिति होते ही वैर वृत्ति जागृत हो उठी। व्यन्तरी ने अपना बदला लेने का अच्छा अवसर जाना। हाथ में आये हुए दुश्मन को देखकर कौन खुश न होगा खुश तो होगा ही; साथ ही उसकी पूरी पूजा करके और अपने मानसिक विकारों के प्रयोग करके ही वह उसे छोड़ेगा। शालार्मा का शत्रु सन्मुख था अब देर सिर्फ उसके प्रयोगों की थी।

भगवान् ने तो शान्त, एकान्त और निर्जन स्थान देखा था; पर उनको ऐसे स्थानों में भी कहां शान्ति और आराम ?

दोपहर की कड़ी धूप का समय था महावीर वृक्ष की छाया में खड़े थे, पर शरीर से पसीना चू रहा था। गरमी असहनीय ग्रीष्म काल के मध्य-दिन (मध्याह्न) की पड़ रही थी, उस पर भी मध्याह्नावस्थांगत सूर्यताप क्लेशकर था। ऐसे समय में लोग बाहर भी नहीं निकलते थे। ऐसे ही समय में वीर जंगल में मंगल करने के लिए ध्यानस्थ खड़े थे।

व्यन्तरी ने प्रथम कलकलाट शब्दमय विराट् हास्य किया। फिर अग्नि-वर्षा करने लगी। ऐसी झुलसाने वाली लू का प्रयोग किया कि आदमी सहन करने में असमर्थ बने। पृथ्वी तप्त-तवे सी हो गई। ऐसे प्रयोग से हार कर दूसरे असहनीय प्रयोग जितने उसकी करने की ताकत थी, कर दिखाये। ज्यों क्रोधी मानव अपने क्रोध में अन्धा होकर

जो चाहे सो करता है-किसी का खयाल नहीं रखता। उसी तरह वह भी निर्दयता पूर्वक महावीर से वैर लेने लगी।

मानसिक कमजोरी प्रबल है कि एक जरा से कार्य से अन्धे होकर दूना जोश लाकर उसे बिगाड़ने की कोशिश करते हैं। असली भेद को, बिना बिगाड़े प्राप्त भी नहीं करते। शालार्मा एक देवी थी निकट भूत भविष्य की बात जानती थी, पर उसे विचार करने की फुर्सत ही कहां ? उसे एक प्रयोग को असफल जान कर ताकत बताने के लिये दूसरे कठोरतर प्रयोगों को ला रखना ही याद था। "महावीर को एसी प्रबल गर्मी ही क्या ? अनन्तसूर्य्य रश्मियों को इकट्ठी कर जलाने भी लग जाय तो भी अचल से चल नहीं बनेंगे" ऐसा उसे स्वप्न में भी खयाल नहीं था।

वह क्या जानती थी कि 'महावीर एक तीर्थंकर उच्च पद्धारी नरोत्तम भगवान बनने वाले हैं। जब दुष्ट वृत्ति जोर मारती है उस वक्त शुभ प्रवृत्ति होना भी दुष्कर है।

शालार्मा व्यन्तरी अपनी अमोघ शक्ति को बरसाती हुए, घबड़ाई नहीं। वह तो अपने ही प्रयोगों में मस्त थी। जरासी धूप पड़ने पर छाते से शरीर ढांकने वाले शूरो ! कोमलता, ढंकने में है या सहने में ? शूरता वहन करने में है या छिपने में ?

गोशाला महाशय इस वक्त जरा सहनशील बने थे और कष्ट का सामना भी किया, पर आपको सहन करने की ताकत नहीं थी, अतः घबड़ाहट के साथ तड़फने लगे। इस बार वीरसिंह को द्वेष की दृष्टि से न देखकर प्रेम पूर्वक सहन किया।

प्रयोगों का होना कहां तक ठहर सकता है ? जब तक कि उसकी प्रयोगशाला के तमाम कार्यों का विकास न हो जाय। राजा सैन्य-बल वहीं तक रख सकता है जब तक उसकी सेना के वार दूसरी सेना सहकर विजयलाभ लेती रहे। सैन्य बल कम हुआ कि पराजय हुई। शालार्मा का भी यही हाल था। उसने बड़ा से बड़ा उपसर्ग उपस्थित किया, पर अन्त में हार खाकर बैठना पड़ा। उसका मुंह जरासा हो गया। और असली रूप में महावीर से आकर क्षमा मांगने लगी।

वीरता का पुजारी अपने हाल में मस्त था। उसको (व्यन्तरी की) कोई परवाह नहीं थी। लेकिन व्यन्तरी ऐसी किंकरी बन गई ध्यान खोलने के पहिले तक वह वहां से एक पैर भी आगे नहीं दे सकी। और मुखाकृति देख देख कर बहुत पश्चाताप करने लगी। ध्यान भंग होते ही वीर वचनों को हृदयगम करती हुई अपने किये प्रयोगों के लिये क्षमा मांग कर चलने लगी। चलते समय कानों में एक झंकार सी सुनी कि "वीर पुरुष को जो उपसर्ग तूने दिये सो ठीक है, पर आयन्दा किसी भोले प्राणी को कभी मत सताना और अपनी बुद्धि से भ्रष्ट मत होना।" यह आवाज कुछ नहीं पश्चाताप की धुन की मस्ती थी। उसी मस्ती में वह वहां से दृष्टिगोचर हो गई।

भगवान् यहां से विचरते हुए राजगृही के नजदीक आये। वहीं पर उन्होंने आठवां चतुर्मास पूर्ण करने का निश्चय किया। राजगृही प्रधान शहर था और उस शहर के तमाम लोग वीरसिंह से वाकीफ थे। महावीर की पूजा

कराने की कोई अभिलाषा तो थी नहीं। सिर्फ उनको अपने कर्मों को खपाने और आत्म-ज्योति जगाने की ही धुन थी। इसी धुन में मन चाहे स्थल पर एकान्त चार महीने का उग्र तप धारण कर एक ही स्थल पर खड़े रहे।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि............चार महीने भूखे एक ही स्थल पर खड़े रहे। यह कैसे निभ सकता है ?

उत्तरः—जिसने समाधि का ज्ञान नहीं जाना उसको तो यह पता भी नहीं पड़ता पर जो इस कर्म का कुछ भी ज्ञान या मान रखता है वह इस बात को मानने में कभी आना-कानी न करेगा।

हम अपने आध्यात्मिक ज्ञान से शून्य हो चुके हैं—हो रहे हैं। सांसारिक विलासिता में फसे हुए हैं। सांसारिक कोटों को परम—रस—स्वाद कैसे मिल सकता है। जमाना पौग्दलिक उन्नति में लगा है। कलों को तैयार कर उनका दुरुपयोग या सदुपयोग जैसा भी कहे, करने में लग रहा है। हमारे हृदय ज्ञान शून्य हो गये हैं थोथे ज्ञान के दिमाग अपनी किताबी ज्ञान की शक्ति को लिये अकड़ रहे हैं। दिमाग क्यों और कैसे ? आदि प्रश्नों में मशगुल है। जिन्हें हर एक बात में आराम ही आराम देखना याद है वे कब इस दुर्गम मार्ग पर चलने का प्रयास करेंगे। यह संसार आधिभौतिक उन्नति करने में, दिनों दिन नई खोजें कर रहा है। संसार की अशान्ति इससे बढ़ती है और शान्ति कोसों दूर चली जा रही है।

प्रश्नः—वीरसिंह क्यों विकट रास्ता तै कर रहा है ? जबकि ईश्वर की प्राप्ति सरल ही है ?

उत्तर:—सिंह को कभी सीधे रास्ते जाते भी देखा है ? सीधे रास्ते चलते हैं, मायावी-डरपोक ! सीधा खाना खाते हैं, निर्बल। सीधा पहनते हैं, कायर ! सीधा लेते हैं, भीख मंगे और साधी वृति रखते हैं बुजदिल !······जिसे संसारी 'नीति' कहते हैं वही सारी स्वार्थ की बुनियाद है। वीर के लिये कोई नीति नहीं होती, न वीर को नीति पालक दुनियाई ठग ही बनना है अतः वे संसारी की परवाह नहीं करते हुए एकान्त शान्त स्थल में ध्यानस्थ रहते हैं।··········'ईश्वर प्राप्ति सरलता से होती है' यह एक कथन मात्र है अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का फल भोगे बिना सद्राह मिलना भी दुर्लभ है। पुरुषसिंह ही मुक्ति सुन्दरी से नाता जोड़ ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। उसी को कहते हैं 'वीर' ! वीरसिंह और महावीर !!! और वीर पुरुष कहते हैं वीर होता है विरला !

अनार्य-प्रतिकार

वहां से चतुर्मास पूर्ण कर विचरते हुए अनार्य (प्लाट) देश में विचरने लगे। वहां के लोग म्लेच्छ या अनार्य कहलाते थे। वे काले और बदरूप थे। प्रथम तो नरसुगुणों की वृत्ति उनमें थी ही नहीं; उस पर भी वीर का गौरांग नग्न शरीर दोनों के संयोग से वे महावीर को बड़ी बुरी निगाह से देखने लगे। एक के बाद दूसरा आता, देखता और मुंह सिकोड़ कर चला जाता। जब बहुत सारे मिले और गांव में आकर ऐसी बातें करने लगे उस पर से सब ने यही सोचा कि यह कहीं का पागल या बदमाश है। दूसरे लोगों ने इसे निकाल दिया है इसलिये इसको मार कूट कर सब सीधा करदो। फिर क्या था खूब डन्डों की मार पड़ने लगी। धक्के लगने लगे धूल की बोछार होने लगी। गन्दे शब्द चारों तरफ गूंजने लगे। साथ ही अनेक बुरे घृणित शब्दों का भी प्रयोग करने लगे।

महावीर एक की सहें, दो की सहें; पर वहाँ तो कितने ही का मामला था। वीरसिंह उन सब का दयनीय समझता था। उन्हें अपने कर्मों की निर्जरा करनी थी। इन सब दुःखों को शान्ति पूर्वक सहते रहे। अनार्य लोगों ने देखा कि यह तो बड़ा मजबूत है :-

'इसको बाहर धकेल दो' इस तरह मे गांव बाहर करा दिये जाते। जहां जाते। वहीं यही हाल। वे टूटे फूटे मकानों का आश्रय लेते तो वहां भी उन्हें चैन नहीं। चट से लोग वहां भी जा पहुंचते और उन्हें बाहर करते। इस तरह कहीं कहीं खाने को मिल जाता, तो कोरा, पीसा धान या सड़ा गला भोजन ! नहीं मिलता तो यों ही रात दिन बिता देते। मौन-वृत्ति अनार्यों को नहीं भाती थी। वे समझते थे और वे इसिलिये अधिक दुःखद प्रयोग भी करते थे—"बोलना ही पुरुष का पुरुषत्व (पौरुष) है। चुप रहना बदमाशों का काम है। जो ज्यादा बदमाश और नालायक होता। वही उन सब में पूज्य होता था। पाशविक वृत्तियाँ को जहां पोषी जाती है वहां सद्वृत्तियों की क्या पहिचान ?

वीरसिंह को एक भी घृणित प्रवृत्ति का कुछ भी खयाल नहीं था। हमें एक ऊंचा काम कर नीचा काम करना पड़े तो हमारा अपमान समझते हैं—अपनी शान में फरक समझते है। जरा से कोई बुरे शब्द कह दे, तो दस सुनाने को तैयार होते हैं। एक के दो और दो के चार मारने में कुशल होते हैं। सहन करने में जो ताकत भरी है उसे वीरसिंह विजयी 'जैन' ही प्राप्त कर सकता है। महावीर गगन विहारी गरूड है। उसकी सब आपत्तियाँ हृत्तल स्पर्शी होती है पर शान्ति से वहन करते हैं।

अनार्य देश का रीवाज खान, पान, देश का ढंग और काल-चक्र और ही ढंग का होता है। अपने देश में वे आ जाय तो तुम्हें अपन बुरा कहते हैं। पर उनके देश में भूलकर पहुँच जाओ तो सीधा कर सीख देते हैं। उनमें

समझ की कमी होती है। महावीर ने सब प्रतिकार अपने पूर्व भवों के कर्मों का उदय मानकर सहे। मामूली क्रियाएँ तो उनके नित्य के धर्म थे। जैसे तैसे महावीर ने कष्टों झेलते हुए नवाँ-चतुर्मास भी वहीं बिताया।

इस चतुर्मास में अत्यन्त कठिनाईयाँ सहन करनी पड़ी। आजकल के साधु अपने क्षेत्र ममत्वी बन रहे हैं। महावीर के सच्चे पुजारी होते तो बराबर अनार्य देश पावन कर इस युग में अपने सत्यादेशों को व्यवहृत करते।

महावीर वीरों का नेता था। इसी लिए वीरता उसकी चेरी थी। कष्ट उसका प्रेमी था। और चिन्ता उससे डरती थी। भय उससे भागता था। ऊंच नीचपना उसके शत्रु थे। जो था अगाध प्रेम-रस और अक्षुण्ण आत्म तेज! जिसको छिड़क छिड़क कर अनार्य पृथ्वी को पावन की पतित पावन का विरद् भी यहीं निभाने का था सो उनको भी अपने दर्शनों द्वारा कृतार्थ किये।

अनार्य देश गमन—से यही सार निकलता है कि उस देश में जाकर अमीरस की एक धार या सूर्य्य की एक तेजस्वी किरण उधर भी डालनी थी साथ ही अपने पूर्वोपार्जित कर्मों से छुटकारा भी पाना था।

यश—प्रतिकार—

सांसारिक लोलुप्सु यशेच्छु होते हैं। हर कार्य करते हैं यश के लिये। दान देते हैं कीर्ति के लिये। अगवानी करते हैं, बड़ाई के लिये। पढ़ते और पढ़ाते हैं तारीफ के

लिये लच्छेदार भाषण करते हैं, नाम के लिये। और धार्मिक क्रियाएं भी तो इसीलिए होती हैं। शेष यहाँ मोक्षेच्छु (मुमुक्षु) का नाता है। वीरों का वीर ही इस नाते या रिश्ते को यश को ठुकराते हुए जोड़ सकता है, अन्य नहीं। देवों के देव और इन्द्रों के इन्द्र भी इस छूत से बचे हैं। वे भी यश कामना में ही लुप्त से रहते हैं पर वीरसिंह ने नववां चतुर्मास पूर्णकर अनार्य देश मे आर्य देश मे पैर धरा पर कर्म की पराधीनता में कहां सुखी जहां देखो आगे एक न एक उपसर्ग खड़ा ही होता है–एक न एक प्रतिकार मिलता ही जाता है।

गोशाला एक साधु को चिढ़ाने के कारण तेजी लेश्या द्वारा भस्म होता हुआ बचाया जाता है सिर्फ वीर-वरसिंह से! और आगे भी तेजो लेश्या की प्राप्ति तथा अष्टांग निमित की प्राप्ति इसी की भक्ति से मिलती है; पर सबका दुरुपयोग से भ्रष्ट बनता हुआ अलग हुआ अलग संप्रदाय कायम करता है। वह यशेच्छु संसारी ही था। उसने खरा-तत्त्व नहीं पहिचाना था—'अलकत गगरी छलकत जाय,' 'नीम हकीम खतरे इमान' (A little learning is dangerous thing') की कहावतों के अनुसार थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त किया। पर उछलने ज्यादा लगा। गोशाले ने ज्यों त्यों ज्योतिष ज्ञान द्वारा त्रय काल का हाल बता कर यश कमाने और भगवान के नाम से पूजा कराने के लिये अलग प्रवृत्ति करने लगा। तेजोलेश्या रूप लब्धि भी प्राप्त हो गई थी अब यश कमाने और अपना ईश्वरत्व लोगों में कायम रखने का क्या भेद था? सब लोग गोशाला के बड़े भक्त हो गए। उसे भगवान्, ईश्वर आदि नाम से पुकारने लगे।

झूठा सोना कहां तक परीक्षा में टहर सकता है? जब तक कि अग्नि पर परीक्षा न की जाय या कसौटी पर न कसा जाय अथवा यों कहिये कि खरा स्वर्ण न मिले तब तक उसकी कदर होती है उसी तरह गोशाला अन्त में महावीर के दिव्य तेज से फीका पड़ कर अपना अस्तित्व गुमा देता है। यह है सह-प्रतिकार! उनके साथ रह कर भगवान के नाम से यश कमाने की वीर के साथ परम प्रभु के साथ विश्वास घातक प्रवृत्ति!! इसी को दुनियां के लोग 'अनिति' और 'धोखा' कहते हैं इस तरह गोशाला से छुटकारा पाया, पर आपत्तियां तो सिर पर सवार थी।

महान् पुरुषों का यश पृथ्वी और स्वर्ग लोक के कौने कौने पर फैल ही जाता है। जहां देखो, वहीं उनकी तारीफ होती रहती है। उनका यश सफेद रजत के समान चहुं दिशी व्याप्त होता रहता है। किसी को यश-वर्णन पसन्द आता है पर कोई ज्ञान चक्षुओं को अंधा रोग दिव्य पुरुषों के यश को सुनने में ईर्षा भी करता है। ऐसी वृति वाले सब जगह मिल ही जाते हैं यश का वैरी संगम देव महावीर की परीक्षा करने, देवराज इन्द्र भी अपनी सभा में महावीर की वीरता की तारीफ कर रहे थे। महावीर के यश का बदला लेने, उनके यश में धब्बा लगाने या यों कहिये कि उनका अपयश कराने के लिये देवलोक से नीचे उतर आया। उसको अपने घमण्ड के सिवाय स्वप्न में भी खयाल नहीं था कि "मैं किसको और क्यों अपमानित करने जा रहा हूं? मैं उससे स्वतः पराजित हो जाऊंगा।"

यश का प्रतिकार करने को आया था, पर गुण गुणी से भिन्न नहीं होता है। इस तरह यश वाले-कीर्ति शाली

भाग्यशाली महावीर पर इस प्रतिकार का असर होना जरूरी था।

संगम पेढाण गांव के नजदीक स्थित महावीर के पास आया और आकृति देखकर विचारता हुआ सर्व प्रथम धूली वर्षा की कि "ये ही नर-रत्न हैं ! देखता हूं कैसा होता है नर-रत्न पना ?" धूलि की इतनी घन घोर वर्षा की कि जिससे महावीर क्या ? आम पास का तमाम प्रदेश धूलि धूसरित हो गया। प्राणियों को श्वास बराबर नहीं मिलने मे दम घुटने की सी हालत हो गई। महावीर को ऐसे उपसर्ग का क्या खयाल ? जो अपने शरीर छोड़कर आत्मरमन करने में लगता है उनको शारीरिक उपसर्गों का भान नहीं रहता। वीरसिंह के शरीर पर इस प्रकार धूल गिरी कि जिससे उनका सारा शरीर ढंक गया। श्वास में भी नाक के रास्ते वही धूलि अन्दर प्रवेश कर गई। शरीर के तमाम भागों में धूल भर जाने पर भी रञ्चमात्र क्लेश की मात्रा उत्पन्न नहीं हुई इधर शांति के बाद शांति ही बढ़ती जा रही थी उधर संगम के हृदय में प्रतिकार का दूना जोश हृदय में उमड़ रहा था।

मूर्ख का क्रोध, मूर्खता मे और पंडित का क्रोध पण्डिताई के अनुकूल अंकुर लिये होता है अर्थात मूर्ख क्रोध करता है तो अत्याचार, हत्याचार, और जुल्म के रूप में हो जाता है; पर पण्डित का क्रोध सीमा से बाहर नहीं जाता। मूर्ख की मूर्खता मे शठता के प्रयोग कर बदला लेने या क्रोध शान्त करने की अभिलाषा होती है और समझदार बुरे प्रयोग से डरता हुआ। पण्डित प्रयोग से बाहर होता हुआ भी क्रोध शांत करने के प्रयोग मनुष्यता से परे कभी न करेगा।

संगम यद्यपि देव था फिर भी उसमें क्रुरता पूर्ण मूढ़ता समाई हुई थी। उसीसे वह लाचार था इसलिये उसके प्रयोग भी दुष्टता और क्रूरता पूर्ण थे।

धूली वर्षा के बाद विषैली चींटियां अपनी वैक्रिय लब्धि द्वारा उत्पन्न कर (तैयार करे महावीर के शरीर को डंसवाने लगा। चींटियां सारे शरीर के एक एक रोम राजि पर इस प्रकार काटने लगी और खून चूसने लगी कि जिस प्रकार असंख्याता सूईयों का एक मकान एक आदमी के शरीर प्रमाण तैयार कर उसमें रख दिये हों। भाइयों ! याद करो मरने और पैदा होने के वक्त इससे भी ज्यादा दु:ख प्राप्त होता है और दु:ख भोगते भोगते आज अनन्त भव कर फिर भी संसार भ्रमण में भ्रम ही रहे हैं। अपने एक सूई चूभना तो दूर रहा एक चींटी रेंगे तब भी चमक पड़ते हैं भला, जब असंख्यात सूइयों के समान चींटियों के तीक्षण डंक एक साथ लगे तो सहन करने में कैसे बूरे हो सकेंगे।

मैं क्या लिखूं ? मुझे तो इस विभूति की विशेष भूति पर आश्चर्य आता है। कष्टों पर कष्ट और उससे अनन्त गुने कष्ट प्राप्त होने पर भी ध्यान से विचल तक नहीं हुए कहां विश्वामित्र आदि मुनि जो कि अनन्त तपश्चर्य करने पर शरीरममत्व नहीं छूटा ! वहां यह आदेश ? 'जैन' इन्द्रिय दमन करने वाले और उसके प्रचारक में ही पा सकता है; अन्य ऐसा करने और सहने में असमर्थ होता है। वीर का दायरा कोई नन्हा सा नहीं था। वीर बनना कोई छोकरों का खेल नहीं है ! न कोई इनी गिनी चिकनी चुपड़ी-

बातें बनाने से ही 'वीर' हो सकता है ! कहने में शूरा होना सरल है पर करने में शूरे तो क्रोडों में एक ही मिलता है।

वीर-प्रभु ने कष्टों को शान्ति के साथ वहन किये। महावीर को जरा भी विचलित न पाकर संगम देव का क्रोध चतुर्गुण हो गया। वीरसिंह उससे ज्यादा शान्त हो गए। ये उपसर्ग कोई घण्टे आध घण्टे के लिये ही नहीं दिये थे वरन महीनों ऐसे उपसर्ग देकर उनको डिगाने की बहुत प्रयत्न किये। एक मिनट के लिये भी हम ध्यानस्थ हो खड़े नहीं रह सकते हमारा मनन मालूम कितने ही विचारों में कल्पना के लिये दौड़ता फिरता। उसको हम एक मिनिट के लिये भी नहीं सौंप सकते हमें एक मच्छर का हिलन चलन या काटना भी सहन नहीं होता। जरा सा रेंगने का कारण कि दिलो विचार उसे सह नहीं सकते ! अहा ! उस दिव्य तेज धारी का क्य कहना ? क्या वह वास्तव में देव था या नर अथवा नर-रत्न था।

संगम का क्रोध फिर परीक्षा के लिये उमड़ पड़ा। जैसे फेल हुआ विद्यार्थी दूना अभ्यास कर आगे बढ़ने की कोशिश करता है। जैसे फिसली मकड़ी फिर दूने जोश से उपर चढ़ने की कोशिश करती है जिस प्रकार मुसोलिनी जैसे बहादुर अपनी हार का बदला लेने के लिये दूने जोश से एबिसिनिया पर धावा करता है। उसी प्रकार परीक्षा लेने के लिये या अपना मुंह नीचा नहीं करने के लिये सर्प, विच्छू आदि विषैली जन्तु तैयार कर उनको डंसवाने के लिये उनके शरीर पर छोड़ दिये। उनको महीनों तक खूब काट कूट कर उनके शरीर को खोखला बना देने तक की कोशिश की, पर अचल वीर तो कभी चल नहीं बन सकता !

बिच्छू, सर्प जैसे प्राणि को वीर पुरुष पर छोड़ना क्या उस दुष्ट देव की धृष्टता नहीं; तो और क्या था ? संगम हार मान लेता, तो उसको नीची दीखती और परीक्षा की सच्चाई का निर्णय भी नही होता।

परीक्षक परीक्षा लेता है कठोर से कठोर प्रश्नों द्वारा और दुष्ट दुष्टता से सत्य परीक्षण करता है कठिन से कठिन नीच प्रवृति द्वारा संगम को तीन प्रकार के परीक्षण करते हुए चार महीने के करीब हो गए। वीरसिंह जैसा का तैसा खड़ा रहा। शरीर का एक भाग भी विचल नहीं हुआ। दृष्टि की एक कोर भी नहीं हिली। रोम का एक अंग भी बांका नहीं हुआ सब हर्षित हो सहते रहे। संगम सब परीक्षा कर थक गया तब अपना अन्तिम प्रयोग करने को उद्यत हुआ ! और इस वार उसे पूर्ण विश्वास था कि "बड़े बड़े ऋषि, महर्षि हो कमनीय प्रयोग से चल हो गये। इसमें यह घमंडी जरूर अनुत्तीर्ण होगा ! इसकी शील वृति का परिचय हो जायगा और मैं अपना वचन अच्छी तरह इन्द्र के सन्मुख प्रशस्त कर अपनी असलीयत कायम कर यश कमा लूंगा। साथ में इन्द्र को भी लज्जित कर दूंगा !"

जैसा विचारा वैसा ही किया ··········संगम ने वसन्त ऋतु जैसी मन मोहक, मन्दोन्मत्त बनाने वाली ऋतु के योग्य पदार्थ ला जुटाये। सर्वत्र हरा हरित तृण संकुलित भूमि और वृक्षलताएं दीखने लगी। सुरभित कुसुम वाहिनी हवा महकने लगी सीरी सीरी हवा शरीर को मस्त बनाने लगी वृक्ष लताओं के पत्तों की सनकार हृदय में गुद गुदी पैदा करने लगी। चन्द्राहास सा स्वच्छ निरभ्र आकाश उस

पृथ्वी पर आकर सुधा बरसाने लगा। इस तरह सब कामो-
दीपक सामग्रियां तैयार करने पर भी महावीर को जरा भी
विचल नहीं कर सका।

उसने ऐसी पृथ्वी बनादी थी कि किसी योगी का हृदय
वहां जाने पर युवती की चाह जरूर करता है इस विचार
से उसने युवतियां सुरपद्मिनियां-परियां एक एक से बढ़ कर
तैयार की सब की सब अपने सुहाग को याद कर फूल
लताओं से चिपकती हुई महावीर की तरफ बढ़ी। उनकी
चाल से लज्जित होकर हंस सरोवरों से उड़कर मान सरोवर
पर जा बैठे। उनकी नुपुर ध्वनि से वीणा लज्जित हो
भीखारी के हाथों चली गई। उनके हाव भाव से शर्मा कर
कमनीयता कमलों में जाकर छिप गई। आंखों की छवि
मृगों ने चुरा ली। इस तरह वे अपने सजे ढंग से उस सुहाग
वीर-सिंह के लिये आगे बढ़ती हुई पास आ पहुंची।

कमनीय कांति वाली सुमनोरमा, उनका मुख-चुम्बन
करने लगी। कोमलता, उससे चिपट चिपट कर उनके एक
एक भाग से भिन्न भिन्न स्पर्शकर परीक्षा करने लगी मन को
चंचल करने लगी—हृदय में गुद गुदी पैदा करने लगी।
पुष्पलता अपने हाथों में सुरभित सुरम्य पुष्पों की माला बना
बनाकर एक के बाद दूसरी धारन कराने लगी। सुहाग रात
अपने सुहाग को पाकर अटखेलियां करने लगी। हँस हँस
कर हाव-भाव प्रदर्शित कर उसका वियोग जन्म दुःख भुला-
कर सुयोगजन्भ एक से एक बढ़कर सामग्री जुटाने लगी।
मृगनयनी, अपने बस्तीर्ण और चंचल नेत्रों को महावीर के
नेत्रों से मिलाने लगी और अनेक नेत्र प्रयोग करने लगी।
प्रति प्रिया, अपना हस्त कंधों पर डालकर दूसरे हाथ से मुंह

आदि को स्पर्श करती हुई चित्तार्कपित करने में जुट गई। वामाङ्गिनी, वाम भुजा की तरह चिपट कर गोद में बैठने के लिये अपने प्रयोग चलाने लगी। हंसोनि, अपनी गति से उनके हृदय को खींचने लगी। कोकिल नयनी, अपनी बोली से कोकिला को लज्जित करती हुई कूंजने लगी और प्रिय के सुयोग के गीत अलापने लगी। नंगाकिनी नग्न बनाकर अपने चरित्र बताने लगी। सुकोमलङ्गा अपने कोमल अङ्गों को सजाने लगी। फाल्गुनी फाल्गुन की होली खेलने की पिचकारी आदि से सुरभित गंध छिटकाने लगी। उनके अङ्गों में काम पैदा करने जैसी रसधार छोड़ने लगी और चन्द्र मुखी अपने मुख की सुन्दरता से मन मोहने लगी। एक नहीं, ऐसी अनेक परियां अपने भिन्न भिन्न चरित्रों द्वारा वीर सिंह को अटल मेरू को डिगाने लगी, पर मेरू कभी डिग सकता है?

सांसारिक महर्षियों के चरित्र जांचे होंगे! विश्वामित्र, पराशर आदि बड़े बड़े ऋषि चूक गये। विष्णु ने वृन्दा सती का सतीत्व लूटा। स्त्री चर्य्या से नारायण (विष्णु) लक्ष्मी से अलग नहीं होते। शिव पार्वती को छोड़ नहीं सकते। और अन्य देवों और ऋषियों के भी यही पुछल्ला लगा हुआ है। संसार के इतिहासकारो! ऐसा कहीं वर्णन पाया हैं? किसी पोथे में या ताम्र पत्र, ताडपत्र अथवा प्रस्तर पर भी खुदा हुआ बांचा है? ऐसा आदर्श कहीं कानों से भी सुना है? जो संसारी अपने भगवान को भी स्त्री मय बना देते हैं भला, उनके लिये यह आदर्श क्या ठीक लग सकता है?

संसारी कामासक्त पण्डितों! तुमने अपनी धृष्टता से अपने शास्त्र कामना और वासनालिप्त से बना दिये हैं; क्या

कभी तुम्हारी लेखनी भी ऐसी विभूति के लिये उठी है ? कभी इस सच्चे वीर की भी सुनी है ? कामदेव, कामका खजाना भी काम की चाह करता है पर कामजीत वीर-विजयी के शब्द भी कानों पड़े ?

किस्से बांचते हैं, 'तोता मैना के चाहते हो स्वर्ग और मोक्ष ? बांचते ही रसप्रिय उपन्यास, चाहते हो तात्विक ज्ञान ! चलते हो विलासिता की चाल, चाहते हो शान्ति ! इन दो का जोड़ भी कभी मिला है ?

तलवार की धार देख कर डरने वाले, खूब मिष्टान्न और दूध दधि, घृत, पाक आदि खाने वाले कभी रख सके हैं अपने मान को !-बचा सके हैं अपने शील को !! और निभा सके हैं पूर्ण वैराग्य को !! चढ़ सके हैं कभी मोक्ष सरणी की श्रेणी के एक भी पक्तिये पर ! बता सके हैं वीरत्व को और लड़ सके हैं कभी हजारों और लाखों के बीच में !!!

अरे, सांसारिक प्राणियों । कभी कामनाओं के उपरोक्त जाल से वेदाग बचे हुए और जाल को तोड़ फेंक कर विजयी बने हुए सच्चे 'जैन'-सच्चे विजेता-सच्चा जय शील ! और सच्चा 'वीर-वर' वीर-सिंह का नाम भी सुना है ?

बड़े बड़े लड़ाके, बड़े बड़े शूर, और बड़े बड़े पहलवान् ! इस कमनीय कान्तिवाली एक रमणी से मोहित हो गए ! भला, उनके लिये महावीर सरीखे साधन मिल जाय फिर तो वे कभी भी वहां से एक पैर आगे बढ़ कर संसार की ओर देखे भी नहीं । हा, रण्डी बाजी ! नृत्य नचाने वालो विलास प्रियो ! आज हम को खबर भी है ! अनन्त कलव्यतीत

हुआ काल सिर पर अब भी गरज रहा है मौत अब भी बुला रही है—यम तैयार खड़े हैं, पर इस मृत्यु से भी डरते हैं या नहीं ? महावीर इसी सरणी को पार करने के लिये ध्यानस्थ हो आगे और आगे बढ़ रहे हैं।

वीरसिंह ने जान लिया था कि-अब संसार में जीना व्यर्थ है। संसारी माया जाल का शिकार बन आज दिन तक खराब हुआ मैं अपनी की हुई नवयुवा-नव-प्रतिज्ञा को अचल रखूंगा। जीतेजी कभी भी अपने ध्येय में नहीं डिगूंगा।' ऐसा विचारने वाले के लिये अनन्त कामाङ्गियां भी आ आकर वर्षों तक अपना माया चक्र चलाते रहे फिर भी अचल से विचल नहीं बनेगा।

अभी संगम अपनी वैक्रिय लब्धि का पूरा प्रयोग नहीं कर पाया था। और बाकी था। इन स्त्रियों-परियों का ऐसा प्रयोग कई दिनों तक चलता रहा फिर इन्होंने इसको बदल कर नृत्य रूप में कर दिया। अब वे अपने मधुर गान में महावीर के हृदय को चीरने लगी तथा पैरों की चंचलता में, अंगों की विचलता में, कमरों की झुकावट में, चुटकियों की आवाज में, पैरों की आहट में तथा स्फूर्ति—दायक नृत्य गति से, वीर के शरीर को—वीर के ऐश्वर्य को—वीर के मन को लूटने लगी। ये अदनी सी परियां वीर को क्या समझे ? नाचती हुई एक एक परी अपनी मधुर मधुर झंकार और विशेष विशेष प्रकार के हाव भाव करके नृत्य—लाइन से बाहर निकल कर महावीर के शारीरिक अंगों को स्पर्श करती हुई हृदय की चुटकियां लेने लगी। यहां तक कि वे अपने शरीर के अंग प्रत्यंगों को नंगे रूप में विस्तीर्ण करती हुई नाचने

लगी। अब इसके सिवाय परीक्षा की और क्या हद हो सकती है ? इसमे बढ़कर मनुष्य की क्या परीक्षा कर सकते हैं— इसमें विशेष क्या जाँचकर सकते हैं ?

अब परीक्षा की हद हुई। परीक्षा करते हुए पूरे छः मास व्यतीत हो गये। अन्तिम हद पर आ पहुँची। संगम को मुंह की खानी पड़ी। उसके पास अब प्रयोग शाला का कोई अस्त्र शस्त्र बाकी न रहा। सब प्रयुक्त हो निकम्मे बन गये। फिर भी निकम्मे शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करना नहीं छोड़ा।

महावीर ने अपना छः माही तप पूर्ण जान कर ध्यान भंग किया और गोकुल ग्राम में आहार लेने को गये। संगम को फिर भी आशा थी कि-भूखे शेर को सताने से जरूर द्वेष या क्रोध करेगा और इससे मेरा प्रण बच जायगा। वीरसिंह भी एक शेर था, पर संगम को असली सिंह-की पहिचान कब थी ? वह तो जैसा अपने को जानता था वैसा अन्य को भी समझा। क्या कभी लोहा और लकड़ एक हो सकता है ? बराबर की बाजो ले सकता है ?

संगम ने अपना प्रयोग कर दिया। सबके घरों में घृणित सड़ा गला और सचित्त आहार बना दिया। महावीर एक घर से दूसरे घर गये। दूसरे से तीसरे इसी तरह आगे भी गये पर यही जाल सब जगह बीछी हुई थी।

परीक्षकों या प्रति द्वेषियों ! क्या परीक्षा भी इसी का नाम है ? छः छः महीने भूखे और परीक्षित बनते हुए भी वीरसिंह के भोजन प्राप्ती में भी विघ्न डालना-यह कहाँ तक उचित हो सका है ? यह तो 'बाल की खाल' निकालने सरीखी योजना हुई।

वास्तव में शेर जब भूखा होता है—थका होता है उस समय उससे कोई छिटकानी करे तो अवश्य उसके क्रोध का वारपार न रहेगा—क्रोध दिलाने वाले का काम तमाम करके ही छोड़ेगा। पर वीरसिंह नरसिंह था। वन-सिंह नहीं, कर्म-सिंह था! नर्मसिंह, नहीं, धीर-सिंह था! क्रुद्ध सिंह नहीं, वह क्षमावीर वीर-वर (महावीर) पुरुषसिंह था। उसके लिये इस परीक्षा का क्या मूल्य हो सकता है? उसने इसको भी कर निभाया और मन में द्वेषांकुर भी नहीं ऊपजने दिये।

आखिर अनन्त प्रकाश की शरण लेनी पड़ी। शरमा गया। गर्व हवा में उड़ गया। 'यश प्रतिकार का पश्चाताप' का मोटोज आँखों के सामने आकाश चीरता हुआ नाचने लगे। हृदय में धुक धुकी होने लगी। भय, खेद और पश्चा-ताप तीनों का सम्मिश्रण हुआ। भूल मुंह पर आई-दुष्टता मालूम पड़ी! सृजनता खरी उतरी! अब संगम महाशय निर्बल से सियार बनकर वीर-सिंह के सन्मुख चिन्तित हो प्राण भिक्षा चाहने लगा-अभय-दान की भीख मांगने लगा।

वीर-विभूति का यह भी एक अभिनय था। सच्चे वीर का अंकित करने वाला दृश्य था। संसार के झूठे वीरत्न को फीका करने वाला वीरत्व का आदर्श था संसार के माया वीरों को भयभीत करने वाला चित्र था। जिसकी तसवीर आज भी आंखों के सामने नाचती है तब संसार विमुख वैराग्य जनों के भी छक्के छूट जाते हैं। यह है वीर-सिंह की निर्लिप्तिता! निडरता! स्थल चित्तता!—ध्यानस्थास्थिरता! और तप्ततेज की प्रखरता! इसी को कहते हैं वीरता!

धीरता !! और सत्क्रियता !!! वीर ने हृदय में अपने स्नेह वारि से उनको तृप्त किया। नतसिर संगम इन्द्र की सभा में गया। पर इन्द्रने उसे अपनी सभा से वाहिर कर दिया। दुष्ट अपनी दुष्टता से स्वयं दुःखी होता है। ईर्षालु और यश का शत्रु अवश्य अपयश प्राप्त करता है यश का प्रतिकार करने वाला निश्चय ही नतसिर होता है और दूसरों की बढ़ाई को नहीं चाहने वाला तथा दूसरों को नीचा दिखाने के लिए सतत् प्रयत्न करने वाला कलंकमय आदर्श से संसार में पतित और स्थान भ्रष्ट हो जाता है।

वीरसिंह अडोल थे उन्होंने अपना पारणा वत्सगोपी के यहां शान्ति पूर्वक पूर्ण किया। फिर अवसर देखकर वहां से विहार कर दिया।

आहारप्रतिकार
(अभिग्रह)

वीर पुरुष को तपश्चर्या करते करते ग्यारह साल के लगभग समय होने आया कभी चतुर्मास तप, कभी त्रैमासिक छः माही, बेला आदि तप कर अपने शरीर को तपाते हुए आलम्भिका, श्रावस्ति, कौशाम्बी आदि नगरियों में विचरते हुए। वैशाली में पधारे। वहां चतुर्मासी तप कर चतुर्मास पूर्ण किया। जीर्ण श्रेष्टि के (वैशाली) चतुर्मास में बराबर भक्ति करने पर भी उनके यहां पारना न कर पूर्ण भद्र नगर के एक घमण्डी सेठ के यहां उबाले हुए उड़द के बाकले से चतुर्मासिक-तप का पारणा किया।

इस तरह अपने शरीर को सरल बनाने और कर्मों खपाने के लिये आहारप्रतिकार या अभिग्रह भी बहुत किया करते थे। वीर प्रभु वैशाली स विहार कर चमरेन्द्र की रक्षा करते हुए बेले बेले छट्टम करते हुए सुसमापुर, मोगपुर, नदि आदि गांवों में होते हुए कौशाम्बी की ओर बढ़े। वहां पर उन्होंने छः माही तप के पारने में एक बड़ा भारी अभिग्रह किया। जिस में ये तेरह बातें समावेश होती थी:—

(१) किसी राज कन्या के हाथ से आहार लेना (२) जो कि बेची हुई हो (३) जिसके पैरों में बेड़ी (४) हाथों में हथकड़ी (५) सिर मुण्डन किया हुआ हो

(६) तीन दिन की भूखी हो (७) काँछड़ा लगा हुआ हो (८) आहार में उड़द के बाकले हो (९) वे भी सूप में भरे हुए हों (१०) देहरी पर खड़ी हो (११) एक पैर बाहर और (१२) एक भीतर हो (१३) उस पर भी आंखों से आंसू तड़तड़ टपक रहे हों। इन तेरहों का संयोग मिले उसके यहां से आहार लेना वरना भूखे ही दिन बिताना।

आहार का कितना महत्व त्याग ?, कितनी घोर प्रतिज्ञा ! कितना विकट राह, कितना देह त्याग तक उत्कृष्ट-तप ! इसको अभिग्रह कहें कि तप ? यह वो मरणान्त-तप में ही शुमार होता है। कहां ऐसा योग्य सुअवसर मिलता है जहां एक बात का मिलना भी दुष्कर है फिर आहार में उड़द के बाकले बहराने वाली राज कन्या मिलना महान् अशक्य है ! राजपरिवार में उड़द के बाकले मिलना भी दुर्लभ है फिर उस में राज कन्या ऐसी तपस्वी को क्या उड़द बहरावेगी ? ऐसे कभी बन सकता है ? साथ ही सूप में लेकर वह क्यों कर बहराने लगे। आगे वह कन्या बेची हुई हो उसके पैरों बेड़ी और हाथों हथकड़ी हो, सिर मुण्डन किया हुआ हो। इतना सब होते हुए एक पैर देहरी में ही और दूसरा बाहर हो यह कब बन सकता है ईश्वर कृपा से या दैवयोग से यह भी बनजाय; पर आंखों से अश्रु-पात होना यह कैसे निभ सकता है। कोई रोता हुआ-विलाप करता हुआ अपने अतिथि को कभी भोजन नहीं देता। वहां महावीर सरीखे वीरसिंह को ऐसी परिस्थिति में कौन बहरावेगा ?

अहा ! कितना घोर तप, जिसे एक बड़ा ऋषि भी करने में समर्थ नहीं ! ऐसा अभिग्रह खोजने पर भी, इतिहास

को उलटने पर भी और कहीं नहीं मिलेगा। इतना भयंकर आहार-प्रतिकार! इसके सिवाय कर्म शत्रु को हराने का सबसे बड़ा क्या अस्त्र हो सकता है। वीर प्रभु ने अपने शरीर को मरणान्त छोड़ने तक की ठानली थी इसीलिये तो ऐसा अभिग्रह किया था। अगर वे ऐसी कल्पना कर लेते तो कोई दूसरा अभिग्रह धारण करते। कितना आत्म बल! कितना संयम का चरम आदर्श! क्या इससे बढ़कर कोई आत्म शक्ति का परिचय दे सकता है।

उस समय कौशाम्बी में राजा शतानिक राज करता था उसी नगरी में धनवाह नामक एक सेठ था और भी बहुत से बड़े बड़े योग्य लोगों की बस्ती थी। अभी वीर प्रभु के इन अभिग्रह से सारा गांव वाकिफ नहीं हुवा था। प्रभु जहां जाते वहां ऐसा संयोग मिलना दुष्प्राप्य ही था। कहीं तो अच्छे अच्छे मिलते। कहीं बाकर भी तैयार करते। कहीं क्या और कहीं क्या? नाना विध भोजन और रस व्यंजन तैयार मिलते; पर कहीं भी उनके योग्य संयोग नहीं मिलता।

वीर प्रभु को इस तरह से आहार के लिये विचरते विचरते दो तीन महीने बीत चुके थे। तहां तक उनको ऐसा मौका प्राप्त नहीं हुआ। एक स्थान से दूसरे स्थान, दूसरे घर से तीसरे इस तरह आहार गवेषण करते हुए अपने दिन प्रण को पूर्ण करने के लिये बिता रहे थे।

उन्हीं राजा शतानिक और चम्पावती के महाराज दधिवाहन के कुछ अनबन हो गई। शतानिक ने अपने सैन्य बल को एकत्र कर उससे राज्य छीनने की ठान ली। सेना बढ़ती हुई चम्पावती में पहुंची वहां पर दधिवाहन अचानक

आये हुए सैन्य बल देख कर घबरा गया। उसकी ताकत के मुआफिक उसने सामना किया, पर वह कहां तक ठहर सकता था। उसने कोई तैयारी भी तो नहीं की थी। इस तरह से वह हार कर भग गया। अब बदमाश सैनिकों ने नगरी में लूट खसोट मचाना शुरू करदी। एक वीर-सुभट पायक ने राजमहल के अमूल्य मणी, माणिक हीरे और राज-पत्नि धारणी तथा राज पुत्री वसुमति को पकड़ कर अपने साथ ले चला। रानी धारणी बड़ी रूपवती और पति प्राणा थी तथा धार्मिक क्रियाओं में पूरी शूरी थी मां के समान वसुमति के संस्कार के अंकुर भी पूर्व जन्म से उसमें बढ़कर और मात्र सम्बन्ध से विशेष पुष्ट तथा धर्म-प्रिय थे। वह बालपने में ही बहुत सुन्दर और सुडौल थी। उसकी रम-णीयता देशों में मशहूर थी। उसकी शरीराकृति चन्दन की सी थी उसके एक एक अंग की छवि परी को भी लज्जित करती थी। पायक दोनों को रथ में बैठा कर अपने नगर कौशांबी की ओर बढ़ रहा था। यह क्रिया रक्षक के भग-जाने और दोनों के पराधीन होने में की गई।

सुन्दरता बड़े बड़े ऋषियों के भी दिल खट्टे कर देती है। इमानदारी को हवा में उड़ा देती है स्त्री-सुन्दरता के सामने बड़ा से बड़ा वीर भी कायर हो जाता है इसी तरह पायक ने धारणी जैसी सुन्दर गौरांगी नारी को कभी आंखों से नहीं देखी थी इसलिये उसका मन पिगल गया। उसका दिल उससे प्रेम करने को चाहा। प्रेम भिक्षा के लिये उसने धारणी को कहा। पर वह धारणी के हृदय को क्या जान सकता था ? जैसी बाहर है वैसी ही अन्दर से भी है। वह बड़ी पतिव्रता है बदली (बेर) के सामान बाहर से सुन्दर

अन्दर से कठोर नहीं थी। वह तो केले के समान अन्दर और बाहर एक ही सुन्दर रस से सींची हुई थी वह बेदाग की पुतली थी धारणी पायक को भाई के नाते बहुत समझाया "देख, पराई स्त्री की लाज छिनना ठीक नहीं है और मैं लाज बेचने की अपेक्षा प्राण देना अच्छा समझती हूं नाहक, 'धोबी का कुत्ता घरका न घाटका' वाला हिसाब होगा। न मैं तुमसे मिल सकूंगी न तुम ही मुझे पा सकोगे। तुम व्यर्थ तंग करो। सती के सत को छिनने की कोशिश भी मत करो। देख, पीछे पछताना ही पड़ेगा।" जिसकी आंखों में व्यभिचार का रंग ही चढ़ा हुआ था कामासक्त-कामांध हो रहा था। उसे क्या सूझे? उसने रथ को एक भयंकर निर्जन वन मे खड़ा करवा दिया। वहीं धारणी का सतीत्व भ्रष्ट करने और अपने मन की प्यास बुझाने के लिये प्रयत्न करने लगा। ऐसे सभागी वीर कायर नहीं तो और क्या हो सकते हैं? ऐसे अत्याचारी संसार के लिये भारभूत 'त्राहि-त्राहि मचा जाते हैं। न स्वयं सुधरते न दूसरों को अच्छी राह जाने देते।

अब क्या हुआ?

कि जब दुष्ट अपनी नीचता नहीं छोड़ता तो सुजन अपनी सुजनता भी नहीं छोड़ता। आखिर नीचता और सुकोमलता में युद्ध ठन गया। कोमलांगी ने अपने सतीत्व की रक्षण की कोई सामग्री न पाकर अपनी पुत्री को भी शिक्षित करती है "हे पुत्री! संसार में नर जन्म बार बार नहीं मिलता इस जन्म में मैं धर्म के हित में मरने का आदर्श छोड़ जाती हूँ, तो तू धर्म के हित जीकर आपत्तियों को सहकर अपना अमूल्य शिक्षण का आदर्श इन भोले पायक

सरीखे ना समझ प्राणियों के लिये छोड़ना ·······। इतना भी न कह पाई थी कि पायक सुभट ने अपना हाथ धारणी की ओर बढ़ाया। धारणी ने अब अपना निकट समय जान कर मुंह (चन्दन बाला) वसुमति की ओर चुम्बन करने के लिए फेरा। तत्पश्चात् एक हाथ उसकी पुत्री के सिर पर धर दूसरे हाथ से अपने बोलने की जीव्हा को बाहर खींच कर फंकदी। फेंकते ही धड़ाम से पृथ्वी पर जा गिरी।

हां ! महान् दुःख, महान् शोक ! महान् अफसोस ! एक पति-प्रिया स्त्री के प्राणों की आहुति लेते हुए क्या उस पायक का कलेजा नहीं टूट गया। उसका वह हाथ, जो सती के सतीत्व को नष्ट करने को आगे बढ़ा नष्ट नहीं हो गया ! उसकी देहाकृति सती की शक्ति से जलकर भस्म नहीं हो गई और उसकी वह पापमी प्रवृत्ति, जो उसे कामांध बना रही थी उसके ज्ञान मन्दिर को शून्य नहीं कर दिया। प्रभो ! क्या कहा जाय ? सती तो मरकर भी अपना आदर्श छोड़ गई पर पायक जैसा दुष्ट जीता हुआ भी मरे समान कलंक कालिमा में कालुष्यपूर्ण चरित्र छोड़ गया यह है संसारी प्रमत्तों के प्रवर्तक का सच्चा मार्गानुसरण !

अपनी माता के विरह में सती अबला वसुमति रो रो कर विलाप करने लगी। पुण्यवान जीव का रोना भी दूसरों के हृदय में करुणा पैदा कर देता है पायक के पत्थर के कलेजे के टुकड़े टुकड़े हो गये। वह इन दो घटनाओं को देखकर चकित हो गया और सदराह पर आ गया। उसने सती चन्दन बाला को आश्वासन दिया। पुत्री कहकर उसे पुत्री के ढंग से अपने यहां रखने का ढाढस बंधाया। फिर वहां से वह अपने स्थान

पर आया। अपनी पत्नि को सब हाल कह सुनाया पर स्त्रियां भी सुन्दराकृति मनोहराङ्गी बाला को साथ देखकर पुरुष की बातों में शंकाशील जरूर बनती हैं। उसने अपनी 'शोक' ही समझी वह पुत्री कहकर पुकारता है; पर उसके दिल में इसको स्त्री बनाकर घर में रखने का है। ऐसी सुन्दर अबला से भला, अब यह बचने वाला ?

उस पायक की पत्नि ने प्रथम तो उसे बहुत कष्ट दिये। अन्त में पायक द्वारा बाजार में बिकवाने पर ही राजी हुई। वह बाजार में बिकने के लिये खड़ी की गई। रूपलावण्य और शरीराकृति से सब मोहित होते थे। पर कौन उसे खरीदकर लेवे। एक वेश्याने यह मौका अच्छा पाया और उसने मनचाही रकम देकर उसके सौन्दर्य से धन प्राप्ति का अच्छा साधन बनाने की कोशिश की, पर सती के लिये आगे आगे रक्षक खड़े ही रहते हैं। 'उनको जीकर ही अपनी सत्प्रकृति का परिचय देना था।' यह बात वह भूली नहीं थी। ज्यों ही वह वेश्या द्वारा खरीदी गई। वह बड़ी विचार संदिग्ध हो गई। और चिन्तित होती हुई धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी उसको वेश्या के घर जाकर सतीत्व रक्षण की बड़ी चिन्ता थी। वेश्या उसकी प्रवृत्ति देखकर घबराई। फिर भी वह उसे समझाने लगी।

जहां यह घटना घट रही थी वहीं पर एक वृक्ष था। उस वृक्ष पर बैठा हुआ सीता के सतीत्व का हाल बतलाने वाला और बचाने वाले का वंशज एक वानर बैठा हुआ था। उसको अपने पूर्वजों की क्रिया याद आई उसने भी ऐसा मौका हाथ से नहीं जाने दिया। वह वृक्ष से नीचे उतर कर

वेश्या के कपड़े चीरने लगा। वेश्या चिल्लाती हुई लौट गई। बानर तो वृक्ष पर उछलता हुआ चढ़ गया पर वेश्या उधर मुंह फेरकर भी उस सती को न देख सकी। रुपये वापिस लेकर वह अपने स्थान पर गई।

वह पायक घबराकर दूसरे बाजार में उसे बेचने के लिये गया। वहां पर उसने एक धनवाह नामक सेठ को निश्चित कीमत में बेच दी। धनवाह सेठ बड़ा धार्मिक और सहृदय था। उसने वसुमति को विश्वास दिया और कहा 'पुत्री! अब तू किसी की चिन्ता न कर! आज से मैं तेरा धर्म पिता और तू मेरी धर्म पुत्री है। तुमको प्राणों से भी अधिक रखूंगा।' वसुमति ने ऐसे प्रेम पूरित शब्द सुनकर अपने दिल में ढाढ़स बांधी। और अपने सरक्षक पिता को पाकर मन में प्रसन्न होने लगी। सच है, जैसे को तैसे आदमी मिलता है और जैसे को तैसा मिलने पर ही उसे संतोष होता है। वसुमति सेठ के घर में आकर 'चन्दन बाला' कहलाने लगी वह सब व्यवस्था हाथों हाथ करती थी फिर भी सेठानी उस पर कुढती थी सेठानी उस कोमलांगी राजकुमारी पर हुक्म पर हुक्म और काम पर काम सौंपती थी। उसने समझ लिया कि सेठजी बुढ़ापे के लिये बड़ी सुन्दर पत्नि खोज लाये हैं मैं अब प्रौढ़ा हो गई हूँ अत: वे इसको पुत्री कहते हुए भी पत्नि का व्यवहार करेंगे। वह दोनों का प्रेम व्यवहार ध्यान पूर्वक देखने लगी और कलंक लगाने के लिये मार्ग खोजने लगी। ईश्वर कृपा से एक दिन ऐसा भी हुआ कि जब सेठजी बाहर से आए हुए थे। उन्होंने पैर धोने के लिये जल मांगा। चन्दनबाला उस वक्त बाल साफ कर रही थी (संवार रही थी) इसलिये उसने कहा कि—पिताजी अन्दर ही आजाइये।

वे अन्दर गये तो चन्दनबाला ने भक्ति वश उसके हाथों से पैर धोने लगी। धोते समय उसके बाल सेठजी के पैर पर पड़ने लगे, सेठजी ने प्रेमवश उन्हें ऊँचे हाथ से थामे रखे। यह सब चर्य्या वह कुलटा मूला नाम की सेठानी देख रही थी। वह भांप गई और दिल में यह विश्वास कर लिया कि बस, अब मालूम हो गया। पिता और पुत्री कहने की व कल्ला मात्र है। यह तो कुछ घोटाला दूसरा ही है। एक दिन सेठजी कहीं बाहर गये थे। सेठानी ने दिल में विचारा कि 'आज मौका अच्छा है सेठजी इस को प्रेम करते हैं, पर मैं इसका मुण्डन ही करवा देती हूँ और बेड़ियों में बन्द कर भंवारे में उतार देती हूँ।' इसी मिस से नाई बुलाया गया। उस सती के बाल काट डाले गये। उसके हाथों और पैरों में बेड़ियां डाल दी गई। तत्पश्चात् भुंवारे में उतरादी। उतार कर दासदासियों को डरा धमका कर अपने पिहर चली गई।

हे ईश! सती के लिये ऐसी घटना? हां! कितना दुःख कुलटा स्त्री की इतनी ताकत! सती स्त्री के लिये ऐसा व्यवहार! शरीर शृंगार रूप बाल कटा दिये गये फिर सती स्त्री ने धर्म के सुहाग का बाना समझ कर हर्षित हो सह लिया। वह भुंवारे में पड़ी हुई है। उतरते ही उसने तेला कर लिया था। 'शायद मैं बचूं या न बचूं ईश्वर ध्यान और भगवद् भक्ति से क्यों हाथ हटाऊं" ऐसा समझ कर नवकार का जाप करती हुई वह उस भुंवारे में पड़ी रही।

इधर सेठजी उसी दिन घर पर आ गये। सेठानी और चन्दनबाला को वहां न पाकर मन में विकल्प करते हुए

दासियों से पूछा तो उन्होंने घोल माल उत्तर दिया। सेठ चिन्ता करने लगा। एक दम आशा भग्न हो मूषगाशाही हुआ। 'हां ! आज मेरी प्राण प्यारी कहां है ? इधर उधर कोना कोना घर का सम्भाल लिया। सारे गांव में तलाश करली, पर कहीं उस चन्दनबाला का पता नहीं मिला। उसको तीन दिन इसी तरह बीत गये चौथे दिन उसने घोर प्रतिज्ञा की जब तक वह मुझे न मिले तब तक मैं अन्न जल कुछ भी ग्रहण नहीं करूंगा। इस दृढ़ प्रतिज्ञा ने पड़ोसी को पिघाल दिया। पड़ौसी ने उनसे कहा कि बाहर ढूंढने से क्या मिलेगा ? अपने घर को ही ढूंढो। सेठ को भी याद आया। उसने भुंआरे को तहखाने को नहीं ढूंढा था। अतः उसने उसको खुलवाया तो शीलवती सती चन्दनबाला अपने सुहाग ध्यान में तल्लीन पडी हुई मन्त्र जाप कर रही थी। वह ज्यों की ज्यों बाहर लाई गई। तीन दिन की भूखी थी। सेठजी ने अपनी दासियों को अन्न के लिये पूछा तो उन्होंने उड़द के बाकले पड़े हुए हैं' ऐसा कहा सेठानी बर्तन वगैरह कुछ भी बाहर नहीं रख गई थी अतः सूप में ही पड़े हुए वह उन्हें लेकर भी साधु को आहार देने के भाव से भावना भाती रही। इधर महावीर को भी घूमते घूमते एक दिन कम छः महीने पूरे हो चुके थे। अब उनके अभिग्रह की कड़ी परीक्षा हो चुकी संयोग से संयोग आ मिलता है। भगवान सारे शहर के घर घर गोचरी के लिये फिरे पर कहीं ऐसा अवसर नहीं मिला।

महा भाग्यवान सती चन्दनबाला का ही सौभाग्य था सो जिस समय सूप के अन्दर बाकरे लेकर देहरी बीच में बैठी थी उस वक्त में सब लक्षण (अभिग्रह के) मिल रहे थे।

उसी समय ऋषि सिंह भी डोलता हुआ आ पहुंचा महर्षि ने अपने योग्य सब लक्षण पा लिये: पर रोना उसकी (चंदन बाला की) आंखों में नहीं देखा वे उस स्थान से लौटने लगे। सती अपने भाग्य कोसती हुई रोने लगी। "वीर-प्रभु ! क्या इतना भी मेरा सौभाग्य नहीं ? इतनी अभागिनी हूँ ?" ! प्रभु पीछे फिरे आंखों में अश्रु देखे और सब जैसे के तैसे लक्षण मिल गये। धीर-वीर-सिंह ने उड़द के बाकले से पारना कर लिया। देवताओं में 'अहो ! दान महो ! दानम्' देव दुंदुभि बजाते हुए कहा। और पंच द्रव्यों की वर्षा की।

ये सब बातें हवा की तरह नगर में फैल गईं। मंत्री, राजा और बड़े बड़े सेठ उसके घर आये और उसकी महल प्रतिष्ठा हो गई। यह चन्दनबाला वही है जिससे की केवल वीर के पास दीक्षा लेकर उज्जवल नाम कर सतियों में श्रेष्ठ बनी।

वीर प्रभु का आहार-प्रतिकार भी निभ चला। वीरों के लिये कौन सी बात असम्भव है ? असम्भव को भी सम्भव बनाने वाले वीर ही होते हैं।

ऋषिवर वहां से आगे बढ़े। सुमंगल, वैशाली, संमेसतक्षेत्र आदि स्थलों में होते हुए चम्पा नगरी में आकर चतुर्मास पूर्ण किया। यहां भी चतुर्मासी तप किया। यही बारहवां चतुर्मास था। तपश्चर्या का पारना कर झूमक, मेंढ़क आदि गांव में होते हुए वणमानी ग्राम के निकट पधारे।

मद–प्रतिकार—

(शय्या पाल का बदला)

त्रिपृष्ट वासुदेव भव में भगवान् ने मद में आकर छोटी सी शैया पालक त्रुटि से उसके कानों में शीशा ढलवा दिया था। वही का वैरी इस नगरी में इस भव में ग्वाले के घर में जन्मा। उसका पेशा गाय चराने का था। वह गोसमूह चराने को आया था। नजदीक ही ग्राम के बाहर एक नग्न-साधु को देखकर उसके दिल में क्रोध सा आ गया।

कर्म बदला लिये बिना छूटता है। वीर सिंह की तरह निडर खड़ा था। फिर भी इनके आंतरिक शत्रु एक से एक बढ़ कर प्रतिकार कर रहे थे। परीक्षा पर परीक्षा और कष्ट पर कष्ट आने पर भी वे अपने ध्येय से आज तक नहीं डिगे थे। अब भी सहने को तैयार थे।

गो बाल आगे बढ़ा और बोला-नालायक! वही का, नग्न होकर यहां खड़ा हो गया है। कुछ शर्म भी नहीं आती। देखता भी नहीं कि यहां मैं नगा होकर कैसे खड़ा हूँ। अरे दुष्ट! क्या तुझे इतना भी खयाल नहीं कि (थोड़ी देर ठहर कर) 'यह बड़ा ढोंगी है! इसको तो मजा चखाये बिना क्या मालूम पड़ेगा। घमण्ड के मारे बोलता भी नहीं। खैर मजा तो चखा ही दूं। याद तो करेगा!" ऐसा विचार कर अपने हाथ की कुल्हाड़ी से लकड़ी की दो पतली पतली कीलियां कर दोनों कानों में ऐसी ठोक दी कि किसी को नजर न आवे। इस असह्य वेदना को महावीर शान्ति पूर्वक सहन करते रहे।

महावीर की तेज की क्या बड़ाई करें? विशेष क्या लिखें। जो अनुभव से ज्ञान होता है वह दूसरे से नहीं होता

वीर प्रभु को जो जो कष्ट हुए उन सब कष्टों को बारीकी से देखे जायं तो वीर से वीर आदमी भी ऐसे कष्ट सहने में असमर्थ होगा। कानों में कीलें ठोकना कोई मामूली कष्ट नहीं था। इस कष्ठ से उन्हें उनके शरीर में बहुत वेदना होती रही। यहां तक कि उनका शरीर कृश और शुष्क बन रहा था।

शरीराकृति में फर्क पड़ गया था। एक गांव से दूसरे गांव पधारे वहां पर खाक नाम के वैद्य ने प्रभु के शरीर को व्याधि पीड़ित जाना। वैद्य ने आकर प्रभु को देखा, तो कानों में कीलें गड़ी पाई। वह बड़े दुखित हृदय से सिद्धार्थ सेठ को बुला लाया और उसकी सहायता से कीलें निकाल ली गई तथा योग्य उपचार कर व्याधि रहित बना दिये गये। इस तरह से भगवान् आगे आगे विचरते रहे। उनके उपसर्गों का अन्त भी आ चुका था। 'मद–प्रतिकार' यही अन्तिम परीक्षा और आखीरी बदला था।'

मनुष्यों के दुखों का अंत भी एक न एक दिन आ ही जाता है। जीव की असावधानी से ही अनेक शत्रु तैयार हो जाते हैं। 'समय मात्र भी प्रमाद मत कर !' का खटका रखने वाला, इससे पार हो जाता है वीर सिंह ने अपने सब परिषहों को वीरता पूर्वक सहे। आगे इसका नतीजा क्या होता है ? यही देखना है।

ॐ३म्

इति वीर–विभूति प्रथम खण्ड पूर्णम्

पूर्णात्म वीर

असद्वेद प्रचार से उत्पन्न मानवीय दुष्प्रवृतियों के निवारण के लिए महात्मा पुरुष अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को विकसित कर लेते हैं। वीरसिंह तत्कालीन समाजकुव्यवस्था और धर्म प्रचार वृत्ति से ऊब कर कल्याण कामना हित गृह वैभव और मायाजाल को छोड़ दीक्षित हुआ। सिंह की तरह अडोल, अकंप, निर्भय बन कर दुस्सह जीवन व्यापी कष्टों, उपसर्गों, तापों और प्रहारों को सहर्ष झेलता हुआ सभी पूर्व कर्म जात प्राप्त परीक्षाओं में खरा उतरा वीर सभी प्रकार के तापों एवं प्रतिकारों से प्रताड़ित होकर स्वर्ण की तरह शुद्ध और निर्मल चमकता हुआ सुरभिपूर्ण ज्ञानात्मा बना।

वीर सुभट युद्ध क्षेत्र में विजय प्राप्त करने के लिए युद्धास्त्रों और शस्त्रों का पूर्णज्ञान प्राप्त करता है और कलाएं सीखकर प्रवीण बनता है उसी तरह सारे संसार में व्याप्त कलुषित वातावरण पर विजय पाने के लिए वीरसिंह ने तपश्चर्या, परिषह और संयम रूप श्रम शक्तियों से पूर्णात्म शक्तियों को केन्द्रित कर लिया था।

जैसे स्वर्ण को मिट्टी से पृथक करने के लिए पीसा जाता है। ताप दी जाती है और पीटा जाता है तदुपरान्त सही रंग एवं सही स्थिति वाला स्वर्ण बनता है उसी तरह

कर्म रूपी मैल से प्राबद्ध वीरात्मा अनेक प्रकार के तापों से तप्त हुए। प्रतीकार रूप प्रहारों से प्रताड़ित किये गये। इन्हीं प्रताड़नों और प्रहारों से सबसे प्रधान मिथ्या ज्ञान वाला कर्मों का राजा मोहनीय कर्म को धराशायी कर सम्य दर्शन की प्राप्ति का लाभ लेकर सम्यक् ज्ञान का परिग्रहण किया और सम्यक् चारित्र बल से अपनी आत्मा को तपोते हुए पूर्ण मोह कर्म का नाश कर क्षायिक भाव में रमण करने लगे।

मोहनीय कर्म–प्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न स्थिति को पाकर ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय एवं अन्तराय कर्मों की सम्पूर्ण घाती प्रकृतियों का नाश कर केवल ज्ञानमय आत्मा वाले बन गये।

आत्मवीर ने पूर्व जन्मों के असद्कर्मों को दूर करने के लिए तपस्याएँ की। उनमें एक पूर्ण छः मासी तप किया। ५ दिन कम दूसरा छः मासी तप किया। चातुर्मासिक तप नव किये। त्रैमासिक तप दो किये। ढाई मासिक तप दो। द्वै मासिक तप छः किये। ड्योढ़ मासिक तप दो किये बारह मासिक तप किये। अर्द्ध मासिक (पाक्षिक) तप बहत्तर किये अट्ठम तप बारह। छट्ठ तप दोसो उन्तीस भद्र तप एक। महाभद्र तप एक और सर्वतो भद्रतप एक किया इस तरह कुल ४१६५ चार हजार एक सौ पेंसठ दिन तपस्या में व्यतीत हुए और ३४९ तीन सौ उनचास दिन अन्न ग्रहण किया कुल १२ वर्ष छः मास और १४ दिन तपश्चर्या में व्यतीत हुए। सिर्फ ११ माह उन्नीस दिन आहार ग्रहण किया। इतनी घोर तपश्चर्या से आत्मा को तपाया शरीर को शुष्क किया। आत्माग्नि प्रज्ज्वलित कर कर्म वर्गणा

के पुग्दलों का होम किया जितना मेल आत्मा पर भवों का अनन्त काल का चढ़ा हुआ था। दिव्य तपश्चर्या की प्रज्ज्वलित अग्नि में भावों की आहुति देकर ध्यान रूपी मंत्रों से होम कर दिव्य स्वर्णमय स्वच्छ स्वप्रकाश से प्रकाशित अनन्त सूर्य रश्मियों मे भास्कृत आत्म स्वरूप को प्रकट किया वीरसिंह ने बाह्य तपश्चर्या रूप अग्निताप मे ही कर्म शत्रुओं का नाश नहीं किया। अपितु भाव तप रूप परिषह, प्रतिकार और दैविक प्रहार भी सहन किये। सोनाग्नी अग्नि से ही शुद्ध नहीं होता अपितु सोहगी डाली जाती है। उस पर भी फूंकनी मे दिव्य वेदना दी जाती है उसके बाद भी एरण पर पिटाई की जाती है इसी तरह संयम साधना के साधक वीर प्रभु ने एक स्वर्ण की तरह आत्मा को जोपित की तमाम सहकारी साधनों के बल से आत्म प्रकाश की दिव्य लक्ष्मी प्राप्त की।

अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र की प्राप्ति का अखंड आनन्द और अनन्त बलवीर्य पराक्रम तथा अनन्त लाभों और भोगों का पुञ्ज पूर्णात्म वीर बन गया। क्या आज का मानव भोगाभिलाषी मायावी एवं शल्यात्मा उस दुर्धर मार्ग का पथिक बन कर अध्यात्म दर्शन को पा सकता है? संयम की धार खांडे की धार से भी अधिक तीक्ष्ण होती है दुनियां के दुर्वचनों, दुर्व्यवहारों प्रहारों और अन्तप्रहारों मे बिद्ध होता हुआ संयम जीवन किस तरह अपनी शुद्ध रहता हुआ आगे चमकता है यही पूर्णात्म दर्शन के मार्ग का मार्ग दर्शक वीर–पाथेय है।

पाठकों ने वीर के जन्म से लेकर अंतिम प्रतिकार के

जीवन को बड़े चाव से पढ़ा और देखा कि वीरसिंह किस तरह वीर-विभूति प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहा—गति मान रहा। उनका जीवन किस तरह बाह्य ताप प्रतिकार कांटों से बिद्ध एवं आभ्यंतरवाक् प्रहारों से उद्वेलित किया गया लेकिन शांत, स्थिर एवं निर्भय होकर सब सहता हुआ आगे बढ़कर सभी शत्रुओं को पराजित कर विजयी बना तमाम अरण्य के कर्म-पशुओं को परास्तकर राजा बन गया। अरिहंत बन गया। अजात शत्रु बन गया। अतः अर्हन्-अर्हत बन गया।

अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं चारित्रमय आत्मा का बन जाना ही पूर्णात्मशक्तियों को प्राप्त कर लेना है। कैवल्यमय बन जाता है चिन्मय बन जाता है। केवली बन जाता है पूर्ण प्रकाशमय आत्म विभूति सूर्य बन जाता है अतः मैं कहता हूँ वीर वे ही विभूतियाँ प्राप्त कर पूर्णात्म वीर बन गये।

तीर्थंकर–महावीर

पूर्णात्मवीर बन जाने पर कई आत्माएं सामान्य केवली रूप में ही वर्तमान रहती हैं लेकिन कोई कोई प्रबुद्धात्माएँ पूर्व जन्म कृत तीर्थंकर नाम कर्म के उदय में तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन कर तीर्थंकर बन जाती हैं। वे आत्माएं उस युग की युग प्रवर्तक महान् आत्माएँ कहलाती हैं। उन्हें ही अवतार की संज्ञा दी जाती है। ऐसी पूर्णात्माएँ समय के चल रहे विकट एवं विरूद्ध प्रवाह को मोड़ कर अनुकूल प्रवृत्तियों में ढाल देती है। ऐसी महान् आत्माएं एक अवसर्पिनी काल में चौवीस होती हैं।

जैन धर्म में चोवीस तीर्थंकर, मुसलमानों में चौवीस पेगंबर और विष्णुओं में चौइस अवतार माने गये हैं। चोइस की संख्या सभी समान हैं। इसके अलावा भी अवतारों में आदिनाथ अवतार तीर्थंकर और पेगम्बर एक ही रूप माने जाते हैं। मनुष्यावतार में प्रथम अवतार ऋषभदेव हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं। प्रथम साधु ऋषभदेव हैं। प्रथम विवाह ऋषभदेव का हुआ पहले केवली ऋषभदेव हुए। पहले राजा ऋषभदेव हुए। इसीलिए सभी के वे आदम बाबा एवं आदिनाथ कहलाते हैं।

युगलियों के युग के बाद सबसे प्रथम मानव हित असिमसी एवं कृषि का उपदेश एवं प्रयोग आदिनाथ ऋषभदेव

ने किया। ब्राह्मीलिपि और देव भाषा का प्रचार प्रसार ऋषभदेव ने किया सबसे प्रथम तीर्थ की स्थापना ऋषभदेव ने की। निवृति एवं प्रवृत्ति मय मार्ग तथा सागार और अणगार धर्म का प्रवर्तन ऋषभदेव ने किया। धर्म तीर्थ के प्रवर्तक आदिनाथ प्रथम तीर्थंकर कहलाये। जिन धर्म केवलियों का धर्म, जन धर्म और जीवन धर्म, तभी से प्रचलित एवं प्रसारित हुआ। लाखों करोडों वर्ष पूर्व जिसका उद्भव हुआ उसकी ऐतिहासिकता का प्रमाण वर्तमान इतिहास क्या दे सकता है? जिस इतिहास का उद्भव वर्तमान मानव ज्ञान ने किया। वह अतीत के मानव विकास का इतिहास का ज्ञान कैसे दे सकता है।

श्रमण धर्म—श्रम संचित कर्मों एवं प्रवृत्तियों से प्रचलित किया गया था। ब्रह्म-आत्म धर्म ब्राह्मण कर्मों से प्रचलित एवं प्रवाहित हुआ जो कर्मकाण्डों में लुप्त हो गया तथा उसका विकृत रूप ब्राह्मण धर्म में विकसित हुआ। ब्राह्माचार, यज्ञ व्रत, नियम, जप, तप, तंत्र, जन्त्र, मंत्र, गीत, साहित्य ज्योतिष एवं अन्य तरह के स्वलाभ जन्य कार्यों, कर्मों, कर्त्तव्यों एवं प्रवाहों में ब्राह्मण धर्म परिवर्तित हो गया। यद्यपि व्रात्य लोगों का, श्रमण-धर्मियों का प्रभुत्व कायम था। फिर भी इह लोकेषणावादी जन विज्ञ पुरुषों को व्रात्य धर्म निवृति मार्ग पसंद नहीं आया। यही कारण था कि आदिनाथ तीर्थंकर के समय का धर्म जिन धर्म दो धाराओं में बंट गया। श्रमण धर्म एवं ब्राह्मग धर्म ब्राह्मण धर्म मे श्रमण धर्म प्राचीनतम है। सभी मानव श्रमण धर्म के अनुयायी थे। लेकिन ऋषियों में भौतिक एषणा को महत्व देने वालों की संख्या अधिक होती गई तो इस तरह

ब्राह्मण धर्म बढ़ता गया। जो विकृत रूप से दुनिया को पीड़ित कर रहा था आध्यात्मिक श्रम रूप श्रमण ब्राह्मण धर्म वेद धर्म का सही प्रचार करने के लिए समय समय पर तीर्थंकर और अवतार हुए ऋषभदेव के बाद अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनंदन आदि तीर्थंकरों ने धर्म में आई हुई विकृतियों का नाश कर नये नये तीर्थों की स्थापना कर धर्म प्रवाह को गतिमान करते रहे। पार्श्वनाथ प्रभु तेवीसवें तीर्थंकर हुए। उन्होंने चतुर्मास धर्म रूप तीर्थ प्रवर्तना की। दया, अहिंसा, प्रेम का अटूट प्रवाह बहाया। तापसों के निकृष्ट तप और हिंसाकारी कृत्यों की तरफ से जनता का मुख मोड़ा। लेकिन संसार में "अभिनव प्रिया हिलोका" जनता सदा नई चेतना की ओर मुड़ती जाती है। चेतना चाहे आत्मिक हो या भौतिक? भौतिक आकर्षण अत्यधिक होता है। इह सुख की कामना वाले जगत जीवों की प्रमुखता में पार्श्व प्रभु का धर्म प्रवर्तन एवं तीर्थ चक्र-वर्तन अल्प समय बाद ही दब गया। उनके ढाई सौ वर्ष बाद ही पुनः पापाचार की अति वृद्धि हुई और अंतिम तीर्थ-कर महावीर की प्रवर्तना प्रारंभ होने लगी। श्रमण धर्म का पुनः आविर्भाव हुआ। "समणों महाणों" का उद्घोष होने लगा।

आप पढ़ चुके हैं कि अश्वमेघ, गोमेघ, और नरमेघ जैसे यज्ञ, स्त्री वर्ग और शूद्रों का अपमान और उनका वेदा-ध्ययन के अयोग्य मानना, वर्ण भेद और वर्णाश्रम व्यवस्था की दुर्व्यवस्था एवं व्यर्थ के वाद विवाद जन्यक्लेशमय वाता-वरण का सारे विश्व में प्रचलन हो रहा था। उस असंतोष अशांति एवं अव्यवस्था मय परिस्थिति में महावीर ने निरंतर

अपनी आत्मिक शक्तियों का विकास किया और योग्यतम स्थिति पाते ही प्रकाश में आ गये।

इसी प्रकाश में आने की स्थिति को तीर्थंकर महावीर बनना कहते हैं। तीर्थंकर तीर्थ की रचना कर फैले हुए मिथ्याचार और अज्ञानांधकार को दूर करता है। धर्म की स्थापना और अधर्म एवं कुधर्म के प्रभाव को नष्ट करता है। अब समय आ गया है कि पूर्णात्म वीर कैवल्य वीर केवल ज्ञानी वीर और जिन महावीर तीर्थंकर महावीर रूप में प्रकट होवें।

ग्वाले द्वारा महावीर के कर्ण में खीले ठोकने के असह-नीय कष्ट को शांति से सहन करते हुए ग्वाक नामक वैद्य से सिद्धार्थ नामक सेठ के सहयोग द्वारा कर्ण वेदना समाप्त की गई और इस तरह भव तापों की अंतिम वेदना को महावीर ने शांति से सहकर अनंत वीर्य की प्राप्ति कर ली थी। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन और अनंत चरित्र बल की प्राप्ति के साथ केवल ज्ञानी बन गये। यह समय वैशाख शुक्ला १० का था। समय जृम्भक नामक गाँव के पास ऋजु बालिका नदी के उत्तर तट पर शामक नामक गृहस्थ के एक खेत में एक शाल वृक्ष के नीचे गोदुहासन में बैठे हुए महावीर की ध्याना-वस्था को प्रकाशित कर रहा था।

वह स्थान, वह गांव, वह नदी, वह तट वह शामक गृहस्थ और उसका वह खेत धन्य है। उस खेत के ऊपर पल्लवित शामक नामक वृक्ष को भी धन्य है कि जिसकी छाया ने महावीर का कैवल्य प्रकट किया। पूर्णात्म वीर

का प्रादुर्भाव किया। तीर्थंकरत्व प्राप्ति का अवसर प्रदान किया। वह दिन का समय धन्य है जबकि महावीर ने तीर्थंकर महावीर का रूप धारण किया।

भावी तीर्थंकर महावीर की आत्मिक संवेदना जागृत हुई और इन्द्रिय जन्य सुषुप्तावस्था में दस प्रकार के अनन्त प्रवाह प्रवाहित हो चले मोहनीय कर्म रूप महान पिशाच को पराजित कर दिया। शुक्ल ध्यान रूप पुंस्कोकिल का दर्शन किया। भव्य जीवों में शुक्ल ध्यानोद्भव उपदेशामृत का वर्षण करने का आभास हुआ गृही एवं साधु धर्म रूप दो रत्न जटित मालाओं हृदयांग पर दर्शित हुई श्वेत गायों रूप साधु—साध्वी श्रावक और श्राविका रूपचतुर्थीयों की रचना का दर्शन किया। देवों का (देवों द्वारा) पद्म-सरोवर में खिले फूलों की तरह सम्मान पाया। अपार भवाम्बुधि को पार करते हुए स्वयं को देखा। केवल ज्ञान रूपी जाज्वल्य मान प्रकाशित सूर्य का दर्शन किया। मानुषोत्तर पर्वत तक वंडुर्यमय निर्मल यश का प्रसार होते हुए देखा। और स्वयं का मेरु पर्वत पर बैठ कर जगत जनता को दिव्य उपदेश देते हुए अपने आप का दर्शन किया। इस तरह दस प्रकार की मन संक्रमणावस्था भाव संक्रमण रूप बन कर भावी प्रवर्तना को मूर्त रूप कर रही थी। तीर्थंकरत्व की अमूल्य निधियां भाव तरंगों में तरंगित होती हुई स्वयं को भविष्य का बोध करा रही थी अर्थात भगवान महावीर अब तीर्थंकर महावीर बन गये थे। केवल ज्ञान प्राप्त हो गया था। तीर्थ की स्थापना का अनुकूल समय आ गया था। वीरसिंह अब वीर से महावीर और महावीर से तीर्थंकर महावीर बन गये थे। धन्य हो, उस महान आत्मा को

जिन्होंने स्वयं को पूर्ण बनाया और संसार के भव्य जीवों के उद्धार के लिये स्वयं तीर्थंकर बने। देव आकाश से उतर आये और देवों ने जय जय कार किया। सारा विश्व एक बार आनंद की लहर और दिव्य प्रकाश की किरण से समाहित हो गया।

तीर्थंकर—क्षत्रियत्व में

क्षतात् किल त्रायते रक्षतीति क्षत्रिय:। दुखी प्राणियों को जो रक्षा कर सकता है वही क्षत्रिय है। जाति से क्षत्रियता का कोई महत्व नहीं। कर्म जात क्षत्रियता ही गण्य एवं मान्य है। जिसमें रक्षा करने की योग्यता है वही रक्षक एवं क्षत्रिय कहलाता है। जो छ: कार्यों का रक्षक होता है वही क्षत्रिय होता है यह व्याख्या अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगी। जीता है और जीने देता है तथा जीवन में सहयोग करता है वह स्वयं अहिंसक होता है अहिंसक का दूसरा रूप प्रधानकर्त्ता रूप ही क्षत्रिय है। क्षत्रिय वंश ने पृथ्वी की रक्षा की। मानव समाज को दु:ख से, पराक्रमण से एवं चोरी व अन्यायी से रक्षण करने वाली कौम क्षत्रिय कहलायी। ऐसी मानव जाति सदा से आगे रही है और नृप पद से सुशोभित हुई है। इसी जाति में नराधिप, नरपति, राजा, महाराजा, एवं महाराना हुए हैं। इसी जाति में से सेनापति वीर सुभट एवं दिव्य कांति को धारण करने वाले हुए हैं। ऋषि, मुनिओं एवं तपस्वियों की आत्म साधना के सहयोगी थे ही क्षत्रिय थे। अत: ब्राह्मण समाज ने भी एक मत से क्षत्रिय की उच्चता स्वीकार की। यद्यपि उन पर भी ब्राह्मणों का शासन था। बुद्धि बल के साथ क्षत्रिय शोभित होते थे। बुद्धि बल एवं धर्म प्रेरणा ब्राह्मणों

च श्रमणों मे ली जाती थी अतः दोनों जातियाँ एक दूसरे को उच्च स्थान देती आई हैं। खास कर जिन मतावलंबियों ने क्षत्रिय जाति की उच्चता ही स्वीकार की है। क्षत्रिय मानव समाज का त्राता, रक्षक पालक एवं शासक होना था।

सांसारिक वातावरण का धर्म पर भी असर पड़ता है। अतः धार्मिक आचारों की परिपालना एवं व्यवस्था में भी क्षत्रियत्व ऊंचा समका है। राजा सिद्धार्थ स्वयं क्षत्रिय उनके पुत्र वीर क्षत्रिय। उनके पूर्व पुरुष क्षत्रिय। अनंत केवली क्षत्रिय। इस उत्सर्पिणी काल के सभी तीर्थंकर धर्म प्रवर्तक क्षत्रिय थे। ऋषभदेव से लगा कर महावीर तक सभी तीर्थंकर क्षत्रिय थे। वैष्णवों के उपास्य देव क्षत्रिय थे। राम क्षत्रिय थे। कृष्ण क्षत्रिय थे। और जो क्षत्रिय जाति के नहीं थे फिर भी जिनमें क्षत्रियता थी वे सभी पुरुषोत्तम बने। श्लाध्य पुरुष बने। चक्रवर्ती बने। वासुदेव बने। प्रति वासुदेव बने। पुरुषों के शासक बने और पुरुषों में धर्म चक्री बने। धर्म प्रचारक बने। इसीलिए मैं कहता हूँ क्षत्रियता ही उच्चता है और क्षत्रियत्व ही नये परिवर्तन लाने की योग्यता रखता है। क्षत्रिय क्रांति करने वाले होते हैं। युग प्रवर्तक एवं युग परिवर्तन कर्त्ता होते हैं। जहां पात्रता होती है वहीं वस्तु का रक्षण होता है और वर्धन होता है। अपात्र एवं कुपात्र में वस्तु की स्थिति बिगड़ जाती है अतएव मैं कहता हूँ क्षत्रियता में लोक शासन एवं धर्म शासन करने की पात्रता है। क्षत्रिय ही धर्म शासक एवं लोक शासक बन सकते हैं। जहां रक्षक बनने की योग्यता है वही रक्षण कर सकता है जो रक्षण पोषण करता है वही पिता होता है। वही त्राता होता है, तीर्थ की स्थापना, तीर्थ

का संचालन एवं तीर्थ का वर्धन कार्य क्षत्रिय ही कर सकता है। कर्म शत्रुओं का दलन करने के लिए और आत्म शक्तियों का विकास करने के लिए सशक्त क्षत्रियत्व की जरूरत है। क्षत्रियत्व ही पुरुषत्व की निशानी है। पुरुषत्व ही क्षत्रियत्व है। पुरुषार्थ का पुतला क्षत्रिय होता है। वही योद्धा होता है और वही विजेता होता है। निडर, निर्भय एवं शौर्यशाली पुरुष क्षत्रिय कहलाता है। ऐसे क्षत्रिय ही जन जन की पीड़ा दूर करने का बीड़ा उठा सकते हैं। भूत काल में उठाया है वर्तमान में उठा रहे हैं और भविष्य में उठाते रहेगें। कर्मशील मानव क्षत्रिय का रूप होता है, अतः मैं कहता हूं की तीर्थ प्रवर्तन की योग्यता भी क्षत्रिय में होती है।

शेरनी का दूध स्वर्ण पात्र में ही टिक सकता है। उसी तरह तीर्थंकरत्व भी क्षत्रिय में ही समा सकता है। इसलिये मैं पुनः कहता हूं कि तीर्थंकर क्षत्रियत्व में पैदा होते हैं। क्षत्रिय जाति ही बौद्धराम, महावीर एवं कृष्ण जैसे युग प्रवर्तक अवतार पैदा करती है। क्षत्रिय जाति ही श्रमण एवं ब्राह्मण धर्म की रक्षा करती है। भूत काल में धर्म की रक्षा क्षत्रियों ने की तथा भविष्य में भी क्षत्रिय लोग ही धर्म की रक्षा करेंगे। धर्म प्रचार, युग परिवर्तन एवं शासन चक्र संचालन कार्य क्षत्रियता की निशानी है। तीर्थंकर सदा क्षत्रियत्व में ही उद्भवित होते हैं। तीर्थंकर क्षत्रिय होते हैं। क्षत्रियत्व ही उनका मार्का है। अतः क्षत्रियत्व में ही तीर्थंकर होते हैं।

तीर्थंकर महावीर स्वयं क्षत्रिय कुलोत्पन्न कर्म से क्षत्रिय एवं गति से क्षमाशील, आधि, व्याधि और उपाधि को सहन

करने वाले, त्रसस्थावर जीवों के रक्षक, भव्य जीवों के उद्धारक एवं तीर्थशासन के संचालक थे। धर्म चक्री एवं धर्म शासक थे। मानवों, दानवों एवं देवों में धर्मांकुर पैदा कर वृद्धिकार्य से पोषित कर फलान्वित करने वाले महा मानव तीर्थंकर महावीर थे।

प्राणियों के प्राणों की रक्षा करने और रक्षा कराने की प्रवृत्ति को बढ़ाने वाले परमपिता परमेश्वर तुल्य महात्मा तीर्थंकर महावीर थे। सच्चे क्षत्रियत्व को प्राप्त कर क्षत्रिय वर्ग की उन्नति करने वाले क्षत्रिय समाज की वृद्धि कर संपूर्ण प्राणि जगत में मैत्री भाव का प्रसार करने वाले प्रबुद्ध जिन तीर्थंकर महावीर थे।

क्षमावीरस्य भूषणम् की जनश्रुति को मूर्त रूप देने वाले चंड कौशिक, जैसे कई विष प्रहारों को भी शान्ति से सहने वाले तथा दैविक यातनाओं को झेलने वाले क्षमा स्वरूप महावीर स्वयं ने क्षमा का आभूषण धारण कर जगत में क्षमावीरस्य भूषणम् को प्रशस्त किया। इसी अलंकार से अलंकृत वीर क्षत्रियता की शोभा बढ़ाने में समर्थ हुए और सच्ची क्षत्रियता का प्रदर्शन करते हुए असंख्य प्राणि समाज को आंतरिक शांति का अनुभव कराते हुए अपने धर्म चक्र को संचालन करने में निरन्तर गतिमान रहते हुए तीर्थंकर महावीर इस भू तल मे पापों का भार उतार रहे थे अर्थात् अपनी क्षत्रियता से तीर्थंकर महावीर बन रहे थे।

तीर्थ स्थापना—

तीर्थंकर सदा तीर्थ की स्थापना करते हैं। धर्म के

प्रचार के लिए भव्यजीवों को संसार समुद्र से तिराने के लिए और युग परिवर्तन के लिए तीर्थ की स्थापना परमावश्यक है। व्यापक परिवर्तन करने के लिये व्यवस्थित प्रचार कार्य आवश्यक है। प्रचार की व्यवस्था के लिये तीर्थ रचना परमावश्यक है। तीर्थ रचना के बिना धर्म का प्रचार नहीं हो सकता। एक तीर्थंकर सहस्त्रों हाथों में धर्म प्रचार के लिये अग्रसर होता है वे सहस्त्र हाथ उनके तीर्थ के अंग होते हैं तीर्थ ही उनके लिए सहस्त्राक्षि, सहस्त्रबाहु, सहस्त्रपाद एवं सहस्त्र क्रियाशील इन्द्रियां होती हैं।

महापुरुषों के चार हाथ या अनेक सिर नहीं होते अपितु उनकी शासन व्यवस्था के अंग ही हजारों रूप में जगत के सन्मुख प्रशस्त होते हैं। विश्व भर की व्यवस्था एक मानव एक स्थान पर बैठ अपने शासन सूत्र द्वारा चला सकता है। शासन सूत्र ही अनेक विध शासन व्यवस्था का निर्माण करता है हजारों लाखों मानव इस व्यवस्था में संयोजित किये जाते हैं। योग्य मानवों द्वारा शासन व्यवस्थाएं चलाई जाती है उसी तरह धर्म शासन में भी प्रमुख रूप साधु साध्वी, श्रावक एवं श्राविका वर्ग तीर्थ कहलाते है। इन तीर्थ के चारों अंगों में आचार्य, उपाध्याय गणत प्रवर्तक प्रमुख नेता आदि पद होते हैं। उन्ही के द्वारा धर्म शासन का संचालन होता है। ऐसे धर्मशासन को तीर्थ कहते हैं। और ऐसे तीर्थ की स्थापना का शुभ अवसर अब आ चुका था। तीर्थंकर महावीर इस शुभ अवसर के लिए उद्यत हैं। कार्यशील हैं।

अपापा नगरी के बाहर समवसरण की रचना की गई। उसमें देव, नर, तिर्यंच आदि सकल श्रुत अध्यवसायोचर

प्राणि सम्मिलित होते हैं। समवसरण एक प्रकार की धर्म सभा है जिसकी संरचना दिव्य पुरुषों देवों द्वारा की जाती है। उसमें निम्न प्रकार की व्यवस्थाएँ होती हैं।

१. सभी जाति, सभी वर्ग एवं सभी वर्ग के मानवों को पारस्परिक सद्भाव के साथ उपदेश सुनने के लिए बैठने की उचित व्यवस्था। देव और तिर्यंचों को उचित स्थान।

२. मानवों के अलावा पशु-पक्षियों का भी उस स्थान की ओर गतिशील होने का दिव्य आकर्षण समवसरण स्वयं प्रेरक और श्रुत योग्य जगत का आह्वान करने वाला आकर्षक स्थल होता है।

३. सभा स्थल पर आते ही प्रत्येक प्राणि अपने भेद भाव और वैर वृत्ति को भूलकर तीर्थंकर की मुखाकृति की तरफ ही खींचा हुआ स्थिर हो जाता है ऐसे वातावरण को समुत्पति दिव्यानंद रस प्राप्त करने वाले सभा स्थल की व्यवस्था।

४. तीर्थंकर के बैठने का स्थान इतना ऊंचा एवं भव्य तथा प्रभा मंडल युत होता है कि सभास्थल में आने वाला प्राणी स्वतः उनकी ओर ही देखता रह जाता है। दूर से दर्शन कर हर्षित हो आत्म विभोर सा स्थान पर जम जाता है।

५. तीर्थंकर की व्याख्यान की भाषा जन साधारण की बोली होती है। उसमें भी भाषावर्गणा के पुद्गलों की संरचना इस तरह होती है कि प्रत्येक भाषा वाला अपनी अपनी भाषा में उनके उपदेश को ग्रहण कर लेता है। आजकल प्रत्येक भाषा का अनुवादक यंत्र विभिन्न राष्ट्रों की सम्मिलित बैठक में लगाये जाते हैं ताकि वे उसे अपनी भाषा में ग्रहण कर सकें।

आज कल ऐसे कम्प्युटर भी बन गये हैं या टेलीप्रिंटर भी तैयार हो चुके हैं कि वे एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने चले जाते हैं। एक ही यंत्र अनेक भाषाओं में टाइप करते चला जाता है। ऐसी ही संरचना तीर्थंकर महावीर के समवसरण में थी। जिससे कि मानव तो अपनी अपनी भाषा में समझ जाते थे लेकिन पशु पक्षी भी अपनी अपनी समझ में उसे ग्रहण कर लेते थे।

६. समवरण सभा स्थल की संरचना इस प्रकार की थी कि प्रत्येक श्रोता का मुख तीर्थंकर महावीर के सामने ही पड़ता था। ऐसे सभा मण्डल सभास्थल पर तीर्थंकर के इर्द गिर्द वर्तमान थे जिसने सभी दिशाओं में बैठे सभासद तीर्थंकर का दर्शन एवं श्रवण कार्य कर सकते थे।

७. तीर्थंकर महावीर का मुख मंडल उनके पद्मासन स्थित शरीर पर इस प्रकार शोभायमान होता था मानों उनके मुख मंडल की प्रभा मानवों के हृदय के ताप, व्याधि एवं क्रोध को शांत कर अनंत दिव्यानंद का निर्झर बहा रही हो। सारी सभा निरव, शांत, स्तब्ध एवं एक ओर ही आकर्षित थी। सिंह और मृग पास बैठे हुए वैर को भूल जाते थे। शत्रु मित्र बन जाते थे। यह दिव्य प्रभा तीर्थंकरों में होती है इसीलिये तीर्थंकर महावीर की समवसरण संरचना में भी वही प्रस्तुति कायम थी।

८. देवलोग निरंतर जयनादों एवं जागृत करने वाले दिव्य विनादों से सभास्थल में अपूर्व जागृति ला रहे थे।

९. तीर्थंकर महावीर के मुख से ऐसी दिव्य ध्वनि का उद्घोष होता था कि सभी उपस्थित समूह की आत्माएँ गद्

गद् हो जाती थी। सुषुप्तावस्था से जागृतावस्था में आ जाती थी। अन्तर ज्योति जागृत हो जाती थी।

देव, किन्नर, मानव, तिर्यंच सभी प्रकार की श्रोता मंडली समवसरण में चारों तरफ से आकर्षित हो आ रही थी। इस आगमन का दर्शन चहुँ दिशी हो रहा था।

ठीक इसी अवसर पर उसी अपापा नगरी के एक खंड में सोमिल ब्राह्मण के यहां महान् यज्ञ होने वाला था। दूर दूर के देश के विद्वद्वर्ग वहां यज्ञ में सम्मिलित हो रहे थे। गोबर नामक बस्ती के निवासी गौतम गोत्रीय वसुभूति के तीन विद्वान पुत्र यज्ञ शाला में पहुंच चुके थे। वसुभूति के तीन पुत्र इन्द्रभूति अग्निभूति और वायुभूति थे।

इन्द्रभूति ने जब चक्षुओं से देवयानों एवं नरयानों को एक तरफ ही गति करते देखा तथा दिव्य जयध्वनियाँ सुनने को मिली तो बड़ा विस्मय में पड़ा। उन्हें विश्वास था कि इस वेद विहित महान् यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए देव, दानव, मानव सभी आ रहे होंगे। लेकिन जब उन्हें आगे बढ़ते हुए उन सभी को पाया तो मस्तिष्क विभ्रमित हो गया। एकाएक अपने पांचसो शिष्यों को उद्बोधन करने लगे। ए शिष्यों आज मैं अपनी आंखों से यह क्या देख रहा हूँ और सुन रहा हूं कि सारे देव और मानव यज्ञ में नहीं आकर आगे किसी ओर खींचे हुए जा रहे हैं? क्या वेद विहित यज्ञ निरर्थक हैं ? या कोई इन्द्रजाली अपनी माया से सभी को धर्म स्थान से अपने सभास्थल की ओर खींचता जा रहा है। मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ रहा है। तुम देख, सुन रहे हो। पता लगाओ ये सारी दुनियाँ किस ओर बढ़ी जा रही है।

शिष्यों में से एक ने पता पा कर कहा–गुरुवर्य सारा आकर्षण तीर्थंकर महावीर का समवसरण है। जो सारे नगर के मानव एवं स्वर्ग के देवों को खींचे जा रहा है। वन एवं नगर के पशु पक्षी भी इधर ही जा रहे हैं।

इन्द्र भूति ने यह सुन कर बड़ा ताअज्जुब किया और शिष्यों को बड़े उत्साह से ललकारा क्या मेरे से भी बढ़कर इस दुनियां में कोई तीर्थंकर नाम की हस्ति है ? क्या इस वेद विहित वृहद् यज्ञ से भी बढ़कर कोई धर्म कार्य है ? क्या इस भव्य यज्ञ शाला से भी बढ़कर कोई समवसरण नाम का सभा स्थल है ? मैं देखना हूँ कौन है ऐसा नरपुंगव। चलो हम सब पहले उनके सभा स्थल की तरफ चलें और वहां का यथा तथ्य पा कर फिर यज्ञ कार्य आरंभ करें।

इन्द्र भूति की आज्ञा पा कर सभी पांच सौ शिष्य उनके पीछे हो लिये। वे तीर्थंकर महावीर के सभा स्थल की तरफ बढ़ते जा रहे थे। समय पर सभी समवसरण के पास पहुंचे। इन्द्र भूति ने समवसरण संरचना से प्रभावित होकर नमन किया। आगे बढ़कर तीर्थंकर महावीर के सन्मुख जाकर खड़े हो गये। तीर्थंकर महावीर ने इन्द्र भूति को सन्मुख पा कर बड़े दया भाव से भाषा वर्गणा में उद्घोष किया। हे इन्द्र भूति गोतम ! देवाणुप्रिया !! हे भव्य आर्य ! आज तुम सशंकित क्यों हो रहे हो ? क्या तुमको इतना ज्ञान प्राप्त कर भी संतोष नहीं हुआ ? आर्य गोतम ! जीव है या नहीं ? यह प्रश्न तुम्हें जर्जर बना रहा है। आज तुम निःशंक बनो और जीव तत्व का बोध जागृत करो।

इन्द्र भूति ने बड़े विस्मय से नत सिर हो श्रुत ज्ञान को जागृत किया। श्रोतेन्द्रिय कान से सुनने का–ध्यान से

श्रवण करने का अनुसरण किया मुंह से एकायक निकल पड़ा। "अहो रुपं ! अहो ध्वनि !!" तीर्थंकर महावीर ने उद्घोष किया।

"हे इन्द्र भूति आर्य ! जो जानता है और देखता है, वही जीव है। हे देवानुप्रिय गोतम ! तुम स्वयं मुझे देख रहे हो, मुझे सुन रहे हो और इस वातावरण का स्पर्श कर रहे हो, तुम मेरे जैसे ही जीव हो। मेरे जितने अनन्त ज्ञानी हो। सुख दुख के वेदक हो। स्वयं अनुभव कर रहे हो। और हे गोतम ! जो अनुभव करने वाला गोतम है—वही जीवात्मा है। ज्ञान के आवरण से शंकाशील बने थे। अब ज्ञान का दिव्य प्रकाश आत्म में जागृत हो गया है। पहिचानो, भव्यजीव ! पहिचानो, आज तुमने स्वत्व को पा लिया है। आज जीवतत्व और अजीवतत्व को पहचान लिया है। तुम स्वयं जीव हो और जो तुम्हारे मे लगा हुआ शरीर एवं तुम्हारे वस्त्र हैं, वे सब अजीव हैं। ज्ञान गुण ही जीव की पहिचान है, तुम्हें शंका कराने वाला स्वयं जीवात्मा है। शंका दूर करने वाला जीवात्मा मैं स्वयं हूं। समझो, समझो, हे गोतम ! दिव्य ज्योतिर्मय जीवत्व को समझो।"

इन्द्र भूति ने अपने सिर को इतना झुकाया कि उनकी मौन स्वीकृति ने तीर्थंकर महावीर को पुनः उद्बोधन करने के लिये प्रेरित किया—"हे गोतम ! तुम आत्मा से शुद्ध और बुद्ध बन सकते हो। तुम स्वयं जीवात्मा और परमात्मा का परिज्ञान पा सकते हो। तुम्हारे में ज्ञान की अनन्त शक्ति है। अनंत ज्ञान शक्ति ही चेतन की पर्यायें हैं। चेतन ही

जीव है। बाह्य वस्तुओं के इन्द्रियों से तुम दर्शन कर रहे हो वे सभी बाह्य वस्तुएँ जड़-अचेतन-अजीव की है। जीव और अजीव के मिश्रण से सारा जगत् भासमान हो रहा है।"

"तुम मेरे पास आये और आने का और शंका निवारण का प्रयास जिसके द्वारा किया गया, वही तुम हो। शरीर रूप गृह मे सुरक्षित शरीर की इन्द्रियों से जो भी ज्ञान होता है वह स्पष्ट और पूरा नहीं होता, अतएव शंकाशील बने रहते हो। अन्तर की दिव्य "सोऽहं" की ज्ञान शक्ति से बार बार अवगाहन करो! तुम्हें मालूम होगा कि "मैं" का बोध कराने वाला तत्व स्वयं जीव है। एक शरीर के नष्ट होने पर जीव दूसरे शरीर को धारण करता है। जीव मरता नहीं अपितु अपने कर्मों से प्राप्त पर्यायों को ग्रहण करता है। शुभ अशुभ कर्म ही हमारे जीवन साथी हैं।"

"आज तुम अपने आप को पहिचान ने की स्थिति में हो। वेदों के सही अर्थों को जानने के लिए आज तुम एक विशिष्ट महात्मा के सामने खड़े हो। जो भी शंका हो पूछो, और भ्रम निवारण कर अपने आप में स्वस्थ हो जाओ।"

इन्द्र भूति ने बड़े नम्र भाव से प्रार्थना की-"प्रभु! आज मैं आपकी शरण में आ गया हूँ। मेरे सब भ्रम दूर हो गये हैं। आपके भामण्डल की प्रभा ने मेरे मिथ्याज्ञान रूप अंधकार को नष्ट कर दिया है। दिवाकर की ज्योति के सामने अंधकार की रात्रि टिक नहीं सकती। आज मुझे सद्वेद का आभास हुआ। बाह्याडम्बरों से मेरा मन फिर गया। आपके वचनों से प्रभावित हो चुका हूँ। मेरा विद्वान होने का मद उतर गया है। मैं अब एक प्रारंभिक आत्मा की

स्थिति में आ गया हूं। "मैं कौन हूँ" इसका सामान्य परिज्ञान प्राप्त हुआ। सच्चा यज्ञ क्या है? सही यज्ञ शाला कौनसी है? और सत्य किधर है? इसका ज्ञान हो चुका है। प्रभो! मेरी धृष्टता के लिए क्षमा करो। मैं एक छोटा सा प्राणी हूँ। जो अपने अन्तरात्मा को जागृत करने के लिए उद्यत हूँ। आज मैं आपके दर्शन कर धन्य बना। मेरा जीवन सार्थक हुआ। मेरा विस्मय एवं उत्सुक भाव सही प्रेरणा का स्रोत बना। जैसे म्यान में तलवार रहती है, तिल में तेल और फूलों में सुगन्ध होती है। उसी तरह मेरे इस शरीर में जीव विद्यमान है। जीवन जीने वाला स्वयं जीव है। यह तुच्छ जीव आज आपकी ओर, आपके धर्म चक्र की ओर अग्रसर हो रहा है। प्रभो! प्रकाश की किरणों को अधिक विष्कृत कर, मुझे अपनी तरफ निकट बुलाओ। दिव्य ज्ञान की एक लहर और प्रवाहित करो, जिससे मेरा जीवात्मा विशेष आनंदित हो, उत्साह एवं प्रेरणा पाकर आपके दिव्य मार्ग की ओर गति करे।" तीर्थंकर महावीर ने अपने मुख से पुनः भाषावर्गणा के पुद्गलों का दिव्य ध्वनि द्वारा प्रसारण किया :-

"हे गोतम! जैसे वृक्ष के पत्ते समय पाकर गिर जाते हैं। रात को ओस की बूंदें सुबह के सूर्य प्रकाश से घासाग्र भाग से स्खलित हो जाती हैं, उसी तरह इस शरीर के वैभव की दशा है। युवावस्था के बाद वृद्धावस्था, जीर्णावस्था एवं परिपक्वावस्था प्राप्त होती है और उसके बाद मृत्यु का आलिंगन करना पड़ता है। अतः हे गोतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।"

जगत में फंसे हुए मिथ्यात्व से प्रेरित होकर आज का

मानव समाज गलत मान्यताओं का शिकार बन चुका है। मानव समाज का वातावरण अत्यंत कलुषित एवं दुखमय बन गया है। उसी वातावरण में तुम पलकर भ्रमित हुए थे। अब सद्वेद के प्रचार से संसार की शांति और व्यवस्था पुनः संस्थापन करने का दिव्य घोष हो चुका है। हे गोतम ! तुम समय मात्र भी प्रमाद मत करो और शीघ्र इस कार्य को करने के लिए आगे आ जाओ।"

"आयुष्य का भरोसा नहीं, इन्द्रियों की शक्ति का विश्वास नहीं, आधि, व्याधि और उपाधि का अन्त नहीं। पर्वत, नदी, विष एवं अग्नि से शरीर की रक्षा का भरोसा नहीं, पानी के बुदबुदे की तरह जीवन की गति है। समय बहता जा रहा है। गया समय पुनः मिलने का नहीं, ऐसा समझ कर हे गोतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।"

"स्थावर एवं त्रस निकायों में यह जीव अनन्त बार उत्पन्न हो चुका है। चौरासी लक्ष योनियों में घूम कर यह मानव भव प्राप्त हुआ है। उत्तम कुल मिला है। दिव्य वेद का श्रवण मिला है। हे गोतम ! अब सिर्फ पुरुषार्थ की दरकार है, अतः एक समय का भी प्रमाद मत कर।"

जैसे कमल जल से ऊपर उठकर सरोवर की शोभा बढ़ाता हुआ वायु में सुरभि का प्रसार करता है, उसी तरह इस मानव देह में जीवात्मा रूप कमल को ऊपर उठा और सारे मानव समाज में अपने सही ज्ञान की सुरभि की महक फैला दे। हे गोतम ! अब समय आ गया है तुम जैसे नरपुंगव विद्वानों का इस तरह आगे बढ़कर सुवासित करने का। अतः समय मात्र भी प्रमाद मत कर। मोह को दूर कर और वीतरागता की ओर बढ़ चल।

"तुमने संकुचित बाह्ययशादि का मोह छोड़ दिया है, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बीजन एवं धन-धान्यादि के परिग्रह की ममता उतार दी है। विशाल सर्वाङ्ग पूर्ण उत्तम प्रशस्त मुक्ति मार्ग को देख लिया है। अब देरी मत कर, उधर ही बढ़े चल। हे गोतम ! त्यागवृत्ति की शक्ति धारण कर शीघ्र संयम मार्ग की ओर बढ़ चल। आगे बढ़ने की उठी हुई भावना को अब मत दबा। गोतम ! समय बड़ा अमूल्य है, अतः समय मात्र का प्रमाद मत कर।"

"हे गोतम ! तुम भव्य हो। अपार संसार समुद्र को शीघ्र तिरने को तैयार हो जाओ। तुम अपने आप को पहचान चुके हो। तुम दुर्बल आदमी की तरह पूर्व में ज्ञान का बोझा उठाकर प्रशस्त मार्ग कोप्राप्त नहीं करने से थक चुके थे, अब विश्रांति मिली है। मिथ्याज्ञान का भारी बोझ कंधों से उतार कर सम्यग्ज्ञान का आश्रय पा चुके हो। अब समय मात्र भी प्रमाद मत करो। उठो और नये उत्साह से पुनः प्रशस्त मार्ग की ओर बढ़े चलो।"

"हे गोतम ! तुम सिद्धत्व वरण करने योग्य बनने के लिए शीघ्र विरक्ति को स्वीकार करो। तुम अनंत काल-चक्र को जीत कर अपनी आत्मा की पूर्णता पाने में सक्षम हो चुके हो। शीघ्रता करो और समय मात्र भी प्रमाद मत करो।"

"हे गोतम ! धर्म रूपी जहाज तुम्हें संसार सागर को पार उतारने के लिए सन्मुख आ खड़ा है। बैठने के लिए आह्वान कर रहा है, शीघ्र धर्म जहाज पर सवार होकर अपनी आत्मा को तारो और दुनियां के भव्य जीवों को भी पार उतारने की तैयारी करो। समय अत्यल्प है। अतः अब समय मात्र भी प्रमाद मत करो।"

प्रथम तीर्थ की स्थापना और गणधरों की नियुक्ति–

तीर्थंकर महावीर की दिव्य दृष्टि एवं दिव्य ध्वनि, दिव्य देशना रूप में गोतम की आत्मा में प्रविष्ट हो गई। गोतम तत्काल अपने पाँच सौ शिष्यों को उद्बोधित करने लगे–"हे शिष्यो ! आज तक आपने मेरी आज्ञा का निर्वाह किया है और मेरी जड़ मान्यता के साथ चलते रहे। मुझे अब सम्यग्ज्ञान हो गया है। आपने भी धर्मचक्री के दिव्य उपदेशों को सुना है। आप यदि मेरी आज्ञा मे अब भी रहना स्वीकार करते हैं और मेरे द्वारा ग्रहित पथ पर चलना चाहते हैं तो मुझे आश्वासन दें, ताकि आप स्वयं भी मेरे साथ तीर्थंकर महावीर की शरण में दीक्षाव्रत धारण कर अपनी आत्मा का उद्धार कर सकें।"

सभी शिष्यों ने एक स्वर मे गोतम की वाणी का स्वागत किया और दीक्षाव्रत अंगीकार करने को तैयार हो गये।

इन्द्र भूति गोतम ने तीर्थंकर महावीर से प्रार्थना की कि प्रभु ! हमें आपकी शरण में लीजिये। हम आप द्वारा दीक्षित होना चाहते हैं। सहर्ष आपके पुनीत मार्ग को स्वीकार कर धन्य बनना चाहते हैं।

तीर्थंकर महावीर ने "जहा सुहं देवाणुपियां" शब्दों का उद्घोष किया। गोतम सहित पांच सौ शिष्य उसी समवसरण में दीक्षाव्रत धारण कर श्रमण बन गये। दिव्य निनादों मे जय ध्वनियां हुईं। पुष्प वृष्टियां की गईं। इन्द्र भूति जैसा अपूर्व विद्वान् धर्मशास्त्रों का पारंगत, वेद-

वेत्ता और उद्भट कर्मकाण्डी आज तीर्थंकर महावीर का प्रथम शिष्य बना और साथ में पांच सौ विद्वान शिष्य भी उनकी शरण में आये। उस समय के कुवेद प्रचार प्रसार की परंपरा पर यह एक बड़ी चोट पड़ी। तीर्थंकर महावीर के उद्घोषों को सूत्रों में ग्रथित कर जगज्जीवों के उपकार के लिए प्रचार करने वाला एक सहस्र आंखों का, हाथों का और पाद विहारों का दल जगत में धर्म चक्र का संचालन करने के लिए तैयार हो गया। तीर्थंकर महावीर ने इन्द्र भूति को प्रथम शिष्य बनाया और प्रथम गणधर का पद प्रदान किया। तीर्थंकर महावीर का तीर्थ स्थापना का प्रथम पाया मजबूत रूप से पूरित हुआ। इस तरह साधु तीर्थ का प्रथम चरण प्रारंभ हुआ। तीर्थ के चार अंग होते हैं। साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप अखंड चतुर्मुखी तीर्थ का एक मुख, एक पाया, एक चरण, एक अंग और एक भाग की रचना प्रारंभ हुई। वह भी ५०१ की संख्या मे पूरित की गई। गोतम सर्व प्रथम गणधर उपाधि के धारक बने। शिष्यों सहित इन्द्र भूति को दीक्षित होने के समाचार सर्वत्र फैल गये। सोमिल ब्राह्मण के यज्ञ मंडप में भी समाचार पहुंच गये। वहां ठहरे हुए इन्द्र भूति के द्वितीय भ्राता अग्नि भूति ने समाचर साश्चर्य सुने। विश्वास नहीं हुआ। वे स्वयं सत्यता की परख के लिए अपने सारे शिष्य समुदाय को साथ लेकर तीर्थंकर महावीर के समवसरण में पहुंचे।

अग्नि भूति महावीर की अलौकिक मुखाकृति एवं उनके दिव्य सभास्थल को देख कर आश्चर्य चकित हो गये। जिस मद पर सवार होकर वे यज्ञशाला से चले थे। वह

मद चूर्ण हो गया। समवसरण की रचना एवं समवसरण में उपस्थित देवों और मानवों को देख कर अग्नि भूति अति आनंद का अनुभव करने लगे। समवसरण में प्रवेश पाते ही चुम्बक की तरह तीर्थंकर महावीर के पास आकर्षित हो पहुंच गये। महावीर ने उनको उद्बोधित किया।

"अग्नि भूति ! तुमको अपने बड़े भाई के दीक्षित होने पर आश्चर्य हुआ और तुम स्वयं यथार्थ का बोध पाने के लिए शिष्यों सहित यहां आ पहुंचे। तुम भव्य हो। तुम शीघ्र अपना समाधान प्राप्त पा लोगे। तुमको शंका है कि कर्म हैं या नहीं ? यदि कर्म है तो अजीव कर्म, चेतन आत्मा पर कैसे प्रभाव जमा सकते हैं ?"

सहज भाव से साधारण जनसमुदाय में जो विज्ञजन हैं उन्हें अपने बोध की भूख को शांत करने के लिए शंका उठ जाती है। शंका का निवारण ही ज्ञानार्जन करना है।"

"देखो ! जीव सदा अजीव के संसर्ग से ही जन्म, जरा, व्याधि आदि दुःख और स्वर्गादि के वैभव रूप को प्राप्त करता है। जब तक चेतन को अपना बोध नहीं होता कर्म जड़ होते हुए भी उस पर प्रभुत्व जमाये रहते हैं।"

मूर्तिमान कर्म अमूर्तिमय चेतन को अनादि काल से घेरे हुए है। जब तक क्षायिक भाव की प्राप्ति नहीं होती, बराबर अपना प्रभाव जमाये ही रहते हैं। केवल ज्ञानी तीर्थंकरों को ये कर्म और जीवत्व के गुण पर्याय प्रत्यक्ष अनुभूमित होते हैं। चर्म चक्षुओं से इनका दर्शन नहीं होता। लेकिन

अनुभव एवं अनुमान में इनका ज्ञान संभव है। कर्मों के द्वारा जीव राज्य वैभव और कर्मों के द्वारा ही गरीबी को प्राप्त करता है। जीवों में जो विषमता दृष्टि गोचर होती है वह कर्म जनित है। जैसे शराब पीने से मानव व पशु बेभान हो जाते हैं, उसी तरह अज्ञान जन्य जड़ कर्मों द्वारा भी जीव को दुःख सुखादि एवं स्वर्ग नरक जनित वैभवों का अनुभव होता है। यदि कर्मों की विद्यमानता स्वीकार न की जाय तो संसार चक्र का परिवर्तन असंभव हो जायगा। जैसा कर्म वैसा फल, यह नियति का सिद्धान्त है। कर्म रहित होने पर जीव शुद्ध चेतन मय अनन्त ज्ञान, दर्शन, चरित्र तथा आनन्द मय बन जाता है।

अचेतन कर्म चेतन मय अरूपी आत्मा को कैसे बन्ध करते हैं? यह बात आकाश और घट के उदाहरण से स्पष्ट होती है। घट जड़ और रूपी है तथा आकाश अरूपी है। दोनों का सम्बन्ध बराबर देखने को मिलता है। घट में बंधा हुआ आकाश घटाकाश कहलाता है। इसी अन्यान्य वस्तुओं के आश्रित आकाश उन वस्तुओं से बन्द हो जाता है। "पुण्यं पुण्येन कर्मणा, पापं पापेन कर्मणा" के सिद्धान्त से पुण्य पाप सब कर्म जनित हैं।

कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से आदि रहित है यदि इसको सादि सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तो आत्मा को कर्म क्यों कर आकर लगे। आत्मा शुद्ध था तो उसमें विकल्प जनित कर्म की उत्पत्ति कैसे सम्भव है। इस तरह मुक्तात्माओं के कर्म से आबद्ध होने की स्थिति हो जायगी। यह भी स्वीकार करो कि आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि है, वह अनन्त होना आवश्यक नहीं है। अनादि सांत

भी अपेक्षाकृत है। अनादि अनंत भी कर्मों का सम्बन्ध अभव्य-आत्माओं के साथ होता है। सादि अनन्त संबन्ध किसी आत्मा के साथ संभव नहीं। जब तक आत्मा भला बुरा कर्म करता रहता है, कर्म प्रदेश आत्मा से लगते रहते हैं। जैसे आदर्श कांच में चलते फिरते और स्थिर सभी पदार्थ परछाई रूप में स्पष्ट दिखते हैं वैसे ही आत्मा पर लगे कर्मों के आवरण केवली आत्माओं को स्पष्ट भासित होते हैं। ज्ञान अनन्त है। कर्म अनादि सान्त हैं। ज्ञान ही चेतन रूप आदर्श है इसमें कर्म रूप दृश्य सदा संचरण होते रहते हैं। हमें अपने ज्ञान और अनुमान एवं अनुभव से यह ज्ञात होता है कि कर्म ही अनन्त काल में भव भ्रमण करा रहे हैं। इष्ट अनिष्ट योग दिला रहे हैं। इष्ट और अनिष्ट सभी योग पूर्ण ज्ञानावस्था में त्याज्य हैं।

मोह अज्ञान और अलाभ ये सब कर्मों के परिणाम हैं। यदि कर्मों का अभाव मानकर किसी एक अदृश्य शक्ति के नियंता अथवा ईश्वर के कर्ता होने का मानकर दुख सुखादि का उन्हीं के द्वारा दिया गया परिणाम मानें तो ईश्वर को कृत कर्मों का फल दान कौन करता है ? यह शंका सहज उत्पन्न होती है। अदृश्य शक्ति को नियंता मानें तो वह अदृश्य शक्ति हम जीव को ही क्यों नहीं मानलें। इसी अदृश्य चेतन शक्ति के साथ कर्मों के सम्बन्ध का ज्ञान असंभव है। इसी असंभव शब्द को अनादि काल रूप दिया गया है। संसार के संक्रमण काल में कर्म प्रदेशों का जीवों के साथ मिलकर जो गति क्रम रहता है वह ही माया कहलाती है। इससे अलग होने से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। वही ब्रह्म चिदानंद पूर्णात्मा परमात्मा ही है।

हे आयुष्यमान् अग्निभूति ! अब समय अनुकूल है। भव्य जीवों को बोध देने के लिए अपनी तैयारी करो। तुम योग्य हो, वीतराग धर्म को स्वीकार कर धन्य बनो। जितने रात दिन व्यतीत हो गये हैं उसकी चिन्ता मत करो। आगे के समय की सार्थकता पर ध्यान दो। आओ, शीघ्र मुण्ड होकर, तीर्थ में प्रवेश करो। साधु तीर्थ की स्थापना कर दी है। उस तीर्थ में सर्व प्रथम आपका बड़ा भाई इन्द्रभूति सम्मिलित हुआ है। उनके ५०० शिष्यों का उन्हें गणधर बनाया है। आप भी शीघ्र अपने शिष्यों सहित इस महान् जगत के उद्धार के यज्ञ में सम्मिलित होओ। स्वयं तिरो और भव्यात्माओं को भी संसारार्णव से पार उतारो। वेद का सही अर्थ में प्रचार करने के लिए हे अग्निभूति ! शीघ्र तीर्थ में प्रवेश करो। कर्मों को आत्मा से दूर करने के लिए शीघ्र विरक्त हो जाओ। सिद्धत्व प्राप्त करने के लिए अपने पूर्ण प्रयास दीक्षा-संयम मार्ग को ग्रहण कर जीवन को धन्य बनाओ।

तीर्थंकर महावीर की दिव्य ध्वनि सुन कर अग्निभूति ने अपने ५०० शिष्यों को उद्बोधन किया तथा उनकी भी स्वीकृति लेकर महावीर को नमन पूर्वक निवेदन किया कि प्रभो ! आज का दिन धन्य है, आपका दर्शन कर आँखें पवित्र हुई। आपकी दिव्य वाणी हृदयंगम हो कर कर्ण और हृदय को शुद्ध कर गई। मेरी आत्मा आपके शरण में आने को उद्यत है। मैं अपने ५०० शिष्यों सहित आपके द्वारा भगवती दीक्षा का वरण करना चाहता हूँ। कृपया मुझे और मेरे शिष्यों को स्वीकार कीजिये।

तीर्थंकर महावीर ने "जैसा सुख हो वैसा करो" आशीर्वाद दिया। और ५०० शिष्यों सहित अग्निभूति को

पांच महाव्रत का तीन करण तीन योग्य से प्रत्याख्यान करा दीक्षाव्रत दान किया। अपने तीर्थ में दूसरे गणधर पद पर अग्निभूति को स्थापित किया। इस तरह भगवान के जन जागरण कार्य में हजारों चक्षुए और हजारों बाहुएं सन्नद्ध हो कार्य क्षेत्र में उतर पड़ीं।

इसी तरह वायुभूति ने शरीर आत्मा की अभिन्नता की शंका को मिटाने के लिए अपने ५०० शिष्यों सहित भगवान वीर के समवसरण में प्रवेश किया। वहां का वातावरण स्वयं प्रेरणास्पद बना और शंका का समाधान प्राप्त करने की इच्छा से तीर्थंकर वीर को नमन कर निवेदन किया-भगवन्! आप सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी है आपने मेरे भाइयों को सद्बोध देकर निर्भय एवं निश्शंक बना अपनी शरण में ले लिये। मेरा भी निराकरण कर मुझे अपनी जन जागरण की शासन सत्ता में सम्मिलित करिये।

भगवन्! मुझे अभी तक शरीर ही आत्मा और आत्मा ही शरीर है, ऐसा आभास हो रहा है। मैं जो हूँ वही आत्मा और शरीर हूँ। जो कुछ भी हूँ वह मैं हूँ। मेरे में दो भिन्न भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। मानव वेद कहते हैं कि शरीर में रही हुई आत्मा पृथक है। मुझे एकाकार दीखता है। मुझे कोई मारता है तो अनुभव होता है। स्तुति करता है तो अनुभव होता है। शरीर को पीटने पर जिसको अनुभव होता है वही मैं हूं। शरीर ही मैं हूं। शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न होने पर मुझे हर्ष और शोक का शरीर जन्य पीड़ा का अनुभव नहीं होना चाहिए। जैसे आपको कष्ट देने पर मुझे अनुभव नहीं होता है लेकिन अनुभव होता है

अतः मैं स्वयं शरीर से अभिन्न हूँ। कृपया सही स्थिति का बोध कराईये तीर्थंकर महावीर ने उद्घोष किया –

हे वायुभूति ! तुम मेरे समवसरण में अपने पाँच सौ शिष्यों को लेकर आये। लाने की भावना का उद्गम कहां से हुआ ? सोचो, शरीर के संचालन में तुम्हारे विचार ही कारण भूत थे। विचारों का उद्भव मन में हुआ और मन का मालिक ही आत्मा है। जैसे किसी इन्द्रिय के क्षीण और अकाम हो जाने पर तुम स्वयं यह कहते हो कि मेरे फलां इन्द्रिय काम करने लायक नहीं है। यदि शरीर और आत्मा एक होती तो इन्द्रिय के शून्य होने पर आत्मा भी उतने ही अंश में शून्य हो जाती. लेकिन सारी इन्द्रियां के लुप्त होने अथवा अंधा, बहरा, गूंगा और अपंग होने पर भी जीव जीता है और अपने शरीर की इन्द्रियों की अक्रियता का अनुभव करता है फिर सोचो हे वायुभूति ! इन्द्रियों वाला शरीर ही आत्मा कैसे हो सकता है।

सुनो, जैसे तलवार म्यान में अलग है फिर भी बाहर से एक रूपता नजर आती है। तिल में तेल और फलों में सुगन्ध पृथक नहीं दिखाई देती लेकिन म्यान में ही तलवार अलग की जा सकती है। तिल में तेल निकाला जाता है और फूलों में सुगन्धित इत्र बनाया जाता है, यह प्रत्यक्ष दीखता है। उसी तरह जीव के मरने पर शरीर शून्य पड़ जाता है। वही शरीर आत्मा के साथ रहने पर क्रियाशील और आत्मा के निकलने पर अक्रिय बन जाता है। सक्रिय और अक्रिय स्थिति में अन्तर लाने वाला ही जीव है। कर्मों के कारण शरीर धारण करता है। संपूर्ण कर्मों के क्षय से मुक्त होकर चेतन मय स्वयं प्रकाशित हो जाता है। शुद्ध

चैतन्य को प्राप्त करने के लिए हे वायुभूति ! समझो और अपने सही रूप को पहिचानो। तुम भव्य हो। तुम्हें ज्ञान गुण की प्राप्ति है। अतः पंच भूतों का बना शरीर पंच भूतों में मिल जायगा लेकिन पंच भूतों को धारण करने वाला आत्मा निकल कर अन्यत्र चला जायगा। हे वायुभूति ! इस संक्रमण अवस्था में ऊपर उठो और स्वयं के चेतन को पहचानो। तुम स्वयं कर्ता और भोक्ता हो। तुम स्वयं ज्ञाता और विज्ञाता हो इस समारांगण से निरने के लिये। शरीर से आत्मा को पृथक करने के लिए और भव्य जीवों के उद्धार के लिए आ जाओ। वायुभूति ! शीघ्र आ जाओ और अपने शिष्यों के साथ दीक्षित होकर तीर्थ में प्रवेश कर जाओ।

वायुभूति ने अपनी शंका दूर होते ही अपने ५०० शिष्यों से अनुमति ली और उनको भी अपने साथ दीक्षित होने के लिए तैयार किये। ५०० शिष्यों सहित वायुभूति ने प्रभु की शरण स्वीकार की। प्रभु को दीक्षा देने के लिए अपनी तैयारी का निवेदन किया। प्रभु ने "जैसा सुख हो वैसा करो" के पद से अनुमति प्रदान की। अनुमति के मिलते ही ५०० शिष्यों सहित श्री वायुभूति ने तत्काल तीर्थ में प्रवेश करने के लिए भगवती दीक्षा अंगीकार की। संयमी बने। तीर्थंकर महावीर ने उन्हें तृतीय गणधर के पद पर सुशोभित किया। इस तरह महावीर का तीर्थ अपनी वृद्धि की ओर बढ़ने लगा।

सोमिल ब्राह्मण के महा यज्ञ में उपस्थित होने वाले अन्य विद्वान सर्व श्री व्यक्त, सुधर्मा, मौर्यपुत्र, अकंपित,

मंडित. अचलभ्राता, मैतार्य और प्रभास थे। वे सभी वेदज्ञ एवं महान् पंडित कर्मकाण्डी विद्वान थे। अपने आपको किसी से भी निम्न स्तर का नहीं मानते थे। फिर भी अपने विचारों में कई मान्यताओं में शंकाशील थे। वे सभी तीर्थंकर महावीर के समवसरण में क्रमशः आते गये और अपने अपने भ्रम को निवारण कर तीर्थ में सम्मिलित होते गये। सभी विद्वानों के शिष्य वृन्द भी उन्हीं के साथ थे। अतः शिष्यों सहित दीक्षित हुए। अपापा समवसरण में उपस्थित हो वे सभी तीर्थंकर महावीर के जन हित महा प्रयाण कार्य के स्तंभ एवं प्रचारक तथा शासन सूत्र के संचालन में अनुशासनरत अध्यात्मज्ञान के धारक क्रियोद्धारक साधु बने।

श्री व्यक्त को जगत में पंच तत्व का सद्भाव है या नहीं ? यही शंका थी। 'ब्रह्मसत्यम्' जगन्मिथ्या एको ब्रह्मो द्वितीयो नास्ति" के अद्वैतवादी विद्वान थे। जगत को माया का रूप मानते थे। माया का अर्थ भ्रम से स्वीकार करते थे जैसे चन्द्र जल में प्रतिच्छाया रूप दिखाई देता है। सही चन्द्र तो आकाश में स्थित है। ब्रह्म स्वयं सर्व शक्तिमान है लेकिन जगत भ्रम वश पंच भूतों का बना हुआ और पंच भूतों से संचालित मालूम होता है। जगत के सारे दृश्य भ्रम मात्र हैं। अज्ञान वश यह सब प्रपंच दीखता है। ज्ञान के उद्भव होते ही माया दूर होकर प्रज्ञावान ब्रह्म में समा जाता है। यह अकल्पनीय कल्पना अद्वैतवादियों की है। इसी अद्वैतवाद की श्रद्धा श्री व्यक्त विद्वान को थी।

वीर प्रभु ने उद्घोष किया—हे देवानु प्रिय व्यक्त ! वेद वाक्यों की असंगति, अर्थ व्यंजना की एक पक्षीय समझ

के कारण होती है। तुम वेद के सूत्रों को सही अर्थ में समझो। "ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या है" यह मान्यता स्वयं ज्ञाता और ज्ञेय का उद्‌बोधन कराती है। ज्ञाता का ज्ञान भ्रम युक्त मानना उचित नहीं। ज्ञान तभी भ्रम युक्त होता है जब उसे आत्मिक ज्ञान विज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है। जो ऋषि या मानव ब्रह्म-सत्य को पा जाता है उसे यह दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि सत्य वही है जो उत्पत्ति, विनाश और स्थिर तीनों दशाओं में वर्तमान रहता है। सद्‌द्रव्यस्य लक्षणम्। ब्रह्म भी एक सत्ता स्वरूप द्रव्य है। अतः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। जब स्वयं त्रयात्मक है तो उसका ज्ञान भी त्रयात्मक है। ज्ञेय पदार्थ भी त्रयात्मक है। सद् की उपस्थिति असद् की अनुपस्थिति का द्योतक है। फिर भी सत् असत् पर्यायें एक में विद्यमान रहती हैं। जगत् के भ्रम या जगत की माया से दूर होने का प्रयत्न यदि जीव करता है तो वह माया स्वयं सत् रूप हो जायगी। जो असत् है वह बंधन रूप नहीं हो सकती। अतः जगत् के सभी ज्ञेय पदार्थ यथार्थ में हैं। ज्ञेय पदार्थ ही पंच-भूत हैं। अग्नि, वायु, आकाश, पानी और पृथ्वी पांचों के सम्मिश्रण से जगत है। जगत का अस्तित्व एवं जगत का संचालन इन पांचों भूतों से होता है। इन पांचों भूतों में ब्रह्म या जीव अथवा सत्य स्वरूप चेतन का अस्तित्व होता है तो संसार का संक्रमण होता रहता है। ब्रह्म के पृथक होने पर ब्रह्म मुक्त हो जाता है लेकिन जगत में रहे हुए जीवात्मा का व्यवहार सदा पांचों से कायमी रहता है। हे व्यक्त ! स्वयं तुम पांचों भूतों से व्यक्त हो-साफ दीख रहे हो। तुम्हारा शरीर पांचों भूतों का है और तुम स्वयं इसके अधिष्ठाता हो। जगत के तमाम जीव और जड़ पदार्थ पांच

भूतों से व्याप्त है। यह समवसरण, यह रचना, यह उपस्थिति और मेरे शरीर का यह सद्भाव सभी पंच भूतों की रचना है, जो रूपी है। जिसका तोल, नाप, दर्शन, स्पर्शन और श्रवण जनित आभास होता है, वे सभी रूपी पदार्थ हैं और जितने भी रूपी पदार्थ हैं, वे स्पष्ट दीखते हैं और जो स्पष्ट दिखते हैं, वे ब्रह्म रूप नहीं हो सकते। जल में रहा हुआ चंद्र स्पर्श से गायब हो जाता है। नाप तोल में नहीं आता। यह तो एक उपमा है जो अग्राह्य है। हे व्यक्त! तुम अव्यक्त की कल्पना छोड़ो। भ्रम को दूर करो। जड़ चेतन उभयात्मक सृष्टि को स्वीकार करो। अद्वैत वाद को सिर्फ आत्मानुशासन में स्वीकार करो। आत्मा स्वयं परमात्म तत्त्व है और परमात्म-प्रकाश आत्मा रूप में द्वैत रूप दिखता है लेकिन चेतन सत्ता से अद्वैत है। आत्मा और परमात्मा में चेतन शक्ति एक है; सिर्फ कर्मों के आवरण से भिन्नता दीखती है।

हे व्यक्त! अब समय आ गया है, सद्वेद का प्रचार करने के लिए इस तीर्थ में सम्मिलित होओ। तीर्थंकर महावीर के वचन सुनकर शिष्यों सहित शंका रहित हो व्यक्त पंडित दीक्षित हुए। और पांचवें गणधर बनाये गये।

श्री सुधर्मा को शंका थी कि जीव जैसा इस जन्म में है, वैसा दूसरे जन्म में नहीं रहता है। जैसे आम के बीज से आम बनता है उसी तरह मनुष्य के योग से मनुष्य बन गया है। दूसरे जन्म में वह जीव देव या तिर्यंच शरीर में उत्पन्न होकर देव या तिर्थंकर बन जायगा। जो जीव इस मानव देह में है वह देव देह में नहीं रहेगा। मनुष्य पुनः मनुष्य ही

बन सकता है। देव पुनः देव ही बन सकता है। देव, मानव और तिर्यंच भिन्न भिन्न भेद रूप जीव हैं।

हे सुधर्मा! आपकी शंका निर्मूल है। जीव तो स्वयं अलग वस्तु है। वह चेतन है। जैसे जैसे जड़ पदार्थों का योग मिलता है वैसे ही रूप को दिखा देता है। उसकी चेतनता में जड़त्व प्रवेश नहीं करता। आप देखते हैं जल की शीतलता में से विद्युत् प्रकाश एवं तेज रूप अग्नि का आविर्भाव होता है और दो विपरीत पदार्थों से मिलकर पानी का आविर्भाव होता है मनुष्य से मरकर मनुष्य होना कोई आवश्यक नहीं है। चूंकि मनुष्य रूप के पुग्दलों का ग्रहण जीव अपने पुण्य एवं पाप मय कर्म वर्गणा से करता है। जिस योनि में जीव जाता है वहां का ही रूप उसी प्रकार के पुद्गलों से प्राप्त होता है। मनुष्यत्व कोई अलग द्रव्य नहीं है। जीव और जड़ दो ही द्रव्य हैं उनके अनेक और अनन्त भेद हो सकते हैं अतः तुम अपनी शंका को निवारण कर अपने भव्यत्व को पहिचानों और शीघ्र दीक्षित हो तीर्थ में प्रवेश कर भव्य जीवों का उद्धार करने में लग जाओ। स्वयं को कर्मों से मुक्त करो। मनुष्यादिभवों से मुक्त करो और अन्य भव्यों को भी जन्मजन्मान्तरों से मुक्त होने में आगे बढ़ाओ।

श्री सुधर्मा ने तीर्थंकर वीर प्रभु की वाणी से तुष्ट होकर अपने शिष्यों सहित दीक्षा लेकर तीर्थ में सम्मिलित हुए और पांचवें गणधर बने।

श्री मौर्य पुत्र की देव है या नहीं ? शंका का समाधान तत्र उपस्थित देवों की प्रत्यक्ष सत्ता से किया। किसी काल

में वैज्ञानिक देव यदि पृथ्वी पर भी न आवें तो ज्योतिष चक्र के ज्योति स्वरूप देवों की दिव्यता एवं पृथ्वी पर व्याप्त वाणमंतर देवों द्वारा शरीर प्रवेश एवं अन्य देहादि धारण कार्य से प्रकट होने से ज्ञात है। यों ब्रह्माण्ड के असंख्य पिण्डों में ऐसी भी पृथ्वियां है और विज्ञान के आधार से हो सकती हैं जिनमे मानव से भी विशेष विज्ञान धारी कलावतारी वैक्रय शरीर को धारण करने वाले दिव्य भोगों को भोगने वाले देवता का अस्तित्व स्वीकार योग्य है। तीर्थंकर वेदों की मान्यता को दुहराते हैं और हवन करने से देवयोनीयां स्वर्ग मिलता है यह फरमाते हैं। "अग्नि होत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:" यह पद स्वर्ग की विद्यमानता प्रकट करता है। स्वर्ग है वहां देव हैं।

इसी तरह सातवें पंडित अकंपितजी का नारकीय जीवों की विद्यमानता में शंका थी। तीर्थंकर महावीर ने स्वर्ग की कल्पना के मूर्तरूप होने से नरक की कल्पना भी आखड़ी होती है ऐसा फरमाया। उन्होंने उद्‌घोष किया कि शुभ कर्मों के फल से पुण्य और पुण्योदय से उत्तम साधन प्राप्त होते हैं। उत्तम साधन मानव और देवों में जन्म लेने से मिलते हैं। दुःखरूप नीच साधनों की उपलब्धि जहां होती है वही तो नरक है। चाहे वह पृथ्वी पर स्वीकार करो चाहे अन्य पृथ्वी पिण्डों पर। नरक की वास्तविकता विश्वसनीय है। अनेक पृथ्वी पिण्डों पर जन्मे हुए प्राणी नानाविध यातनाओं का भोग करते रहते हैं वे ही पृथ्वी पिण्ड नरक कहलाते हैं। नरक की पृथ्वियों पर रहने वाले नारकी जीव से संबोधित होते हैं। इस तरह मौर्य पुत्र और अकंपितजी समाधान प्राप्त कर अपने तीन तीन सौ शिष्यों

सहित तीर्थंकर महावीर से दीक्षित हो उनके तीर्थ में छठवे और सातवें गणधर बने।

आठवें पण्डित मंडितजी अपने शिष्य परिवारों से तीर्थंकर महावीर की शरण में आये। उनको बंध, निर्जरा और मोक्ष की जाव के साथ सद्भाव की शंका थी। बंध तत्व मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप आस्रव से कर्म जीवों के पास आते हैं और बंध तत्त्व उन्हें अनुबंध कराता है। कर्मों का आना आस्रव। पानी का आना आस्रव रूप और पानी का खड्डे या तालाब में इकट्ठा जमा होना बंध रूप है। पानी का तालाब से सुखाना या बाहर निकालना निर्जरा है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना से निर्जरा होती है और निर्जरा से कर्म बंध समाप्त हो जाते हैं। जीव शुद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाता है। कृत्स्नकर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है। कषायों की मुक्ति ही मोक्ष है। मोक्ष एक ऐसा गन्तव्य स्थान है जहां आत्मा अपने आपमें रमण करता है और वापस जगत में जन्म मरण करने नहीं आता सच्चिदानंदमय बन कर अनन्त काल तक प्रकाशमय पुञ्ज में तल्लीन हो जाता है कर्म बन्धनों से आत्मा जन्म मरण सुख दुःख का अनुभव करता है। बाह्याभ्यंतर तप रूप चारित्र की आराधना से कर्मबन्ध कटजाते हैं और जन्म मरण और दुःख सुख का अन्त हो जाता है। मंडित पुत्रों की शंका का समाधान होने पर शिष्यों की राय से तीन सो शिष्यों सहित वीर तीर्थ में दीक्षित हो, प्रविष्ट हो गये। आठवें गणधर पद के धारक बने।

श्री अचल भ्राता भी तीन सौ शिष्यों सहित वीर प्रभु की शरण में आये और उनके द्वारा पुण्य पाप के अस्तित्व

की शंका दूर की। पुण्य और पाप एक तरह से आस्रव के ही भेद हैं। यों बंध में भी पुण्य पाप की गिनती की जाती है। जो प्रकृतियाँ आस्रवित हो कर बंध को प्राप्त हो जाती हैं वे भी पुण्य पाप ही कहलाती हैं शुभ कार्यों से शुभ फल पुण्योदय के कारण और अशुभ कार्यों से अशुभ फल पापोदय के कारण है। पुण्य और पाप एक विश्वास करने के दो पहलू हैं जिन पर जीवों का जीवन व्यतीत होता है। स्वस्थदीर्घायु उत्तम संस्थान-संहनन, आदेय, तीर्थंकर नाम सुभग, सम्मान, उच्च कुलादि की प्राप्ति पुण्योदय से होती है। इष्ट फलदायी कर्म पुण्य के नाम से पुकारे जाते हैं और अनिष्ट फलदायी कर्म प्रकृतियाँ दुःख, नीच संस्थान संहनन, अनादेय, दुभग, असम्मान नीचकुल आदि को प्राप्त कराती हैं। पुण्यपाप समझने की एक प्रणाली है जो प्राणियों के शुभ फल और अशुभ फल को प्रकट करती हैं। पुण्य पाप की विस्तृत जानकारी वीर प्रभु से प्राप्त कर आत्म तुष्ट हो ३०० शिष्यों सहित चारित्र को स्वीकार कर तीर्थ में प्रविष्ट हुए और इसी तरह अचल भ्राता नवें गणधर बने।

श्री मेतार्य नाम दसवें पंडित समवसरण में आये और तीन सौ शिष्यों के साथ वीर-प्रभु को नमन कर बैठ गये। उन्होंने पुनर्जन्म की अपनी शंका सामने रखी। वीर-प्रभु ने पूर्व जन्म और पुनर्जन्म दोनों पर विशद व्याख्यान दिया। उसका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है। मानवों में कोई कोई जीव जाति स्मृति मतिज्ञान के धारक समय समय पर उपलब्ध रहते हैं वे अपने पूर्व भव के वृत्तान्त सुनाते हैं उन वृत्तान्तों से मानवों ने परीक्षण से सत्यापित किये स्वयं ने पूर्व भवों के अशुभ कर्मों का नाश करने के लिए विगत बारह वर्षों से ऊपर तपस्याएँ की और कर्म

रूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर आगे सम्पूर्ण ज्ञानवान बन गया हूँ मुझे पूर्वापर सभी जन्मों का प्रत्यक्ष बोध हो रहा है। इसी ज्ञान से आकर्षित आप जैसे तमाम पंडित मेरे समवसरण की तरफ खींचे हुए आये और अपने भव तापों को शान्त किया। पूर्व भव का अस्तित्व आपको अपने इस नरदेह और ब्रह्म पर्याय को पाने से मालूम हो गया होगा। कोई नीच चाण्डाल कुल में पैदा होता है उसे शास्त्रीयज्ञान का अभाव रहता है एक ही कुल और एक ही माता-पिता से प्राप्त दो पुत्रों की बुद्धि वैचित्र्य स्वयं को मालूम है। पूर्व जन्म के संस्कारों के बिना यह संभव नहीं है। एक मानव शास्त्रों के साधारण अध्ययन से अपने ज्ञान के कपाट खोल देता है और विद्वान बन जाता है दूसरा मानव उसी गुरू से अध्ययन करते करते थक जाता है फिर भी शास्त्रों में पारंगत नहीं बन पाता। समान साधनों की प्राप्ति में भी प्राणियों का अलग अलग उन्नति क्रम में आना पूर्व जन्म कृत संस्कारों का ही फल माना जाता है।

एक ही माता के एक साथ पैदा हुए दो पुत्र समान शिक्षा, समान संरक्षण, और समान साधन प्राप्त कर भी भिन्न गति करने वाले प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं अतः पूर्व भव का स्वीकार करना अनिवार्य है। अपर जन्म भी इसी लिए स्वीकार्य है कि जब पूर्व के संस्कारों की प्राप्ति इस भव में होती है तो इस भव के संस्कार अगले जन्म में अवश्यंभावी है। कई लोग पंचभूतों का बना शरीर पंच-भूतों में समा जाता है ऐसा मानते हैं। लेकिन पंचभूत मिलकर किसी चेतन सत्ता का आविर्भाव नहीं कर सकते पंचभूत स्वयं अपने आप में निर्जीव हैं। चेतन सत्ता ही

उन्हें सजीवता देती है। पंचभूतों के मिलने से या पृथक् पृथक् रहने से ज्ञान की सत्ता उनमें विद्यमान नहीं रहती है। जहाँ चेतन नहीं, वहां ज्ञान नहीं। ज्ञान नहीं, वहां जड़ता है। जड़ता में सद् असद् विवेक नहीं होता। अतः पुनर्जन्म में विद्यमान जीव का ही सब खेल है। पंचभूतों की सामग्री उस खेल में साधन रूप है। साध्य स्वयं जीव है। अतः आपको कर्मबन्ध से उत्पन्न पूर्वापर जन्मों की विद्यमानता संसार चक्र के सुचारु रूप से चलने में स्वीकार करनी ही है। श्री मैनार्य पंडित ने अपनी शंका का समाधान कर तीनसो शिष्यों से तीर्थंकर वीर प्रभु के तीर्थ में दीक्षित होकर प्रवेश पाया। श्री मैतार्य दसवें गणधर कहलाये। शिष्य समूह के धारक गणधर कहलाते हैं। सभी पंडित अपनी अपनी शिष्य मंडलियों से दीक्षित हुए अतः सभी गण-धर बने।

ग्यारहवें पण्डित जो सोलह वर्ष के थे फिर भी तीन सो शिष्यों के गुरू थे। महान पंडित थे। उनका नाम प्रभास था। वे भी यज्ञ शाला से तीर्थंकर महावीर के समवसरण में आये तीनसो शिष्यों के साथ उन्हें नमन किया। उनकी मोक्ष विषयक शंका प्रभु के सामने रखी। प्रभु ने शंका का निवारण किया।

जहां कर्म बंध से आत्मा शुभाशुभ फल को प्राप्त करती है वहाँ कर्म बंध से छुटकारा पाने का भी अभ्यास करती रहती है। एक दिन निर्जरा के योग से कर्म बंध समाप्त होते हैं और कर्म बंध की समाप्ति या मुक्ति स्वयं मोक्ष बन जाती है। मोक्ष का सद्भाव आत्मा की पूर्णता प्रप्ति से है। यदि लोक में आत्मा रहती है तो "पुनरपि

जननं पुनरपि मरणं" का प्रकरण चालू रहता है अतः कर्म से अलिप्त आत्मा अग्निशिखावत, एरंड बीजवत और निर्लेप हुई तूंबी के समान उर्ध्व गति को जाती है। जहां धर्मास्ति कार्य का अभाव होता है वहां स्थिर हो जाती है। उसी स्थान को मोक्ष कहते हैं। वहीं परमात्मा परमशुद्धात्मा, चिन्मय आत्मा अनन्त प्रकाश के चेतन स्वरूप में मिल जाती है। प्रकाश में प्रकाश समा जाता है जीव तत्व अपने आप में पूर्ण एवं मुक्त सच्चिदानंदमय बन जाता है। जहां यह स्थिति है, वहीं मोक्ष है। मोक्ष एक काल्पनिक वस्तु नहीं, अपितु आस्तिक वादियों का विश्वस्थ स्थान है। जिस लक्ष्य की ओर भव्यात्माएं गति करती हैं वही लक्ष्य बिन्दु सिद्धस्थल मोक्ष है।

जो जो पंडित हवन, पूजा एवं इहलौकिक सुखों की चाह वाले जप तपादि करते हैं वे उन्हें ही प्राप्त कर सकते हैं लेकिन जो पंडित अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें पूर्णात्म शक्ति प्राप्त होती है। आत्म शक्ति की पूर्णता को ही मोक्ष कहते हैं।

हे प्रभास ! तुम भव्य हो तुम आत्मा की पूर्णता पाने के लिए समवसरण में आये हो अतः उठो और शीघ्र संयम स्वीकार कर मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर बनो।

श्री प्रभास ने तीर्थंकर वीर-प्रभु महावीर की वाणी का आदर कर तीन सो शिष्यों से स्वीकृति पाकर स्वयं दीक्षित हुए और तीन सो शिष्य भी उनके साथ दीक्षित हुए। इस तरह प्रभास पंडित तीर्थंकर महावीर के तीर्थ में ग्यारहवें मुख्य शिष्य गणधर बने। इस तरह आर्य जगत

के वेद विज्ञ प्रकाण्ड पंडित जो महान् यज्ञ द्वारा हिंसा का प्रचार करने आये थे सभी अहिंसक परिव्राजक गणधर बन गये। यह तीर्थंकर महावीर की प्रथम विजय है।

द्वितीय तीर्थ की स्थापना और साध्वी प्रमुख की नियुक्ति—

तीर्थंकर महावीर के उद्बोधन ने हजारों कोसों में प्रभाव फैला दिया। ग्यारह दिग्गज पंडितों, वेद विज्ञों और प्रधान वेद प्रचारकों का तीर्थ में प्रवेश करने के समाचार वायु वेग से देश देशान्तरों में व्याप्त हो गये। हजारों लाखों नर-नारी तीर्थंकर की शरण में आने लगे। जगह जगह से, नगर नगर से, ग्राम ग्राम से और जनपद जनपद से मानव वृन्द तीर्थंकर वीर प्रभु के उपदेश श्रवण और दर्शन करने के लिए एकत्रित होने लगे। देव वृन्दों के दिव्य निनाद और वीर-प्रभु की दिव्य ध्वनि मानव मानवियों के हृदय में प्रवेश कर गई। सभी उनके तीर्थ में प्रवेश पाने को उत्सुक होने लगे।

श्री चंदनबाला जिसने वीर-प्रभु का अभिग्रह पूर्ण किया और स्वबल पराक्रम से ब्रह्मचर्य को पालती हुई व्रत-निष्ठ बन कर जीवन यापन कर रही थी, तीर्थंकर वीर प्रभु के तीर्थ स्थापना की वार्ता सुनकर कोशाम्बी से अपापा पहुंची। वीर प्रभु के दर्शन कर नेत्र पवित्र किये, वाणी श्रवण कर कर्ण पवित्र किये और हृदय आल्हादित हुआ। मन में तीव्र वैराग्य भावना उद्भूत हुई। भगवान को नम्र वेदन पूर्वक दीक्षित होने का भाव दर्शाया। हजारों महिलाएं भी उसी समय दीक्षित होने को तैयार हो गईं। क्या ही अपूर्व

मगा बंधा और ऐसा चमत्कार पूर्ण वातावरण बना कि एक एक करके एक ही समवसरण में सभी तीर्थों की स्थापना का कार्य पूर्ण होता गया। तीर्थंकर महावीर के उद्घोष ने, वीर प्रभु की दिव्य ध्वनि ने मानव मनों को आकर्षित कर लिया। शासन संचालन के पवित्र कार्य में अपनी देह विसर्जन कार्य प्रारंभ होने लगा।

भव्य जीवों की आत्माएं जागृत हो गईं। भव्य जीव सभी समवसरण में आकर एक साथ एकत्रित हो गये। आज पारस के स्पर्श से सभी लोहमयी आत्माएँ स्वर्ण बनने जा रही हैं। अपने अशुभ कर्मों का नाश कर पूर्णात्माएँ बनने जा रही हैं। सारे विश्व में व्याप्त अज्ञानांधकार को नष्ट करने के लिए तीर्थंकर–सूर्य की रश्मियां बन कर प्रसर रही हैं। भूले भटकों को मार्ग बताने के लिए पथ दर्शक बनने जा रही हैं। भव्य जीवों को तारने के लिए तिरण-तारण जहाज बनने जा रही हैं। मूक पशुओं की हत्याओं, स्त्री शूद्रों के अत्याचारों, वर्णाश्रम व्यवस्था तथा वर्ण भेद की उत्पीड़नाओं, व्यर्थ के वाग्जालमय शास्त्रार्थों के दंगलों, और एकान्तवादियों के मिथ्या प्रलापों को नष्ट करने के लिए तीर्थंकर महावीर की सहस्र वाहिनियां, शांति सेनाएं दिव्य प्रचार करने वाली संघ वाहिनियां और सारे विश्व में समन्वय फैलाने वाली, अनेकान्त की विजय पताकाएं फहराने वाली विहारिणियां तैयार हो रही हैं।

अपापा के समवसरण की लीला वैचित्र्य का वर्णन लेखनी के बाहर है। धन्य हो, ऐसे वीतरागी तीर्थंकर महावीर को, और धन्य हो उनके तीर्थ में प्रवेश करने वाले

भव्य जीवों को। जिन्होंने तीर्थ प्रवेश का दृश्य देखा, उन जीवों को भी धन्य हो। देखते ही देखते हजारों स्त्रियों सहित चन्दनबाला प्रभु महावीर के सन्मुख दीक्षित होने को उपस्थित हो गई। महावीर से आज्ञा मांगी। तीर्थंकर महावीर ने "जैसा सुख हो वैसा करो" शब्दों से आदेश दिया। योग्य और पात्र महिला समाज सहित स्वयं चन्दनबाला दीक्षित हुई। चदन बाला को तीर्थंकर महावीर ने अपने द्वितीय तीर्थ साध्वी तीर्थ में सम्मिलित किया। उसके साथ हजारों साध्वियां सम्मिलित हुई। सभी साध्वियों की प्रमुख आर्या श्री चन्दनबाला घोषित की गई। देवदुंदुम्भी बजी। जयनाद हुए।

इसी तरह उपस्थित मानव-मानवियों में से संख्या बंध हजारों ने श्रावक व्रत लिए और हजारों स्त्रियों ने श्राविका व्रत धारण किये। इस तरह देखते देखते हजारों मानव-मानवियों ने तीर्थ म प्रवेश किया। तीर्थंकर महावीर ने चारों पायों के पूर्ण तीर्थ की स्थापना की। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका के चतुष्पाद तीर्थ की संरचना कर दी गई। अपापा तुम धन्य हो। अपापा के निवासी धन्य हैं। अपापा, अपापा पाप रहित पवित्र भूमि बन गई। अपापा तीर्थमयी बन गई। अपापा तीर्थस्थल बन गई। अपापा में तीर्थ की स्थापना हुई। अपापा में महावीर तीर्थंकर बने। तीर्थंकर महावीर ने अपनी दिव्य ध्वनि द्वारा दिव्य घोष किया। अपापा में मानव मेदिनी समवसरण से अलंकृत हुई। अपापा में विश्व के ग्यारह प्रकाण्ड पंडित तीर्थ में प्रवेश पाकर तीर्थंकर के गणधर बने। अपापा उद्योत कारी, कल्याणकारी, प्रेरणादायी और विश्वशांति का

उद्गम स्थान बनी । अपापा में मुक्ति वाहिनी कायम की गई। अपापा में शांति वाहिनी प्रवाहित हुई । अपापा में तीर्थंकर की प्रथम तीर्थ स्थापन क्रिया हुई ।

तीर्थंकर महावीर ने अब ग्रामानुग्राम विचरते, अपने संदेश और उपदेश सुनाते कई भव्य जीवों को तीर्थ में प्रवेश दिलाया । इस तरह अपने प्रचार प्रसार कार्य को सहस्र-वाहिनी मुक्ति सेना से संख्य गुना वृद्धिगत कर दिया । लाखों मानव मानवियों ने व्रत लिये या संघ में प्रवेश पाया । हजारों साधु साध्वी बने । श्रावक श्राविकाएं बनी । दिनों दिन तीर्थ व्यापक बनता गया । संघ का पलड़ा भारी होता गया । वेद विहित हिंसाजन्य यज्ञ शालाएं बंद हो गई । इस तरह प्रचार करते हुए राजगृही के उद्यान में पदार्पण किया । तीर्थंकर वीर प्रभु के आगमन के समाचार सारी नगरी में फैल गये । हजारों की तादाद में मानव-मानवियां भगवान के दर्शनों एवं उपदेश श्रवण को आने लगी ।

राजगृही का राजा श्रेणिक भी अपने पुत्रों तथा रानियों सहित तीर्थंकर महावीर के दर्शनार्थ अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ रवाना हुआ । सारा परिवार समवसरण में पहुंच कर, वीर प्रभु के दर्शन कर हर्षित हुआ, वंदना की और समवसरण में यथा स्थान बैठ गया । तीर्थंकर वीर ने सभी को प्रतिबोध दिया । सम्यक्त्व एवं चरित्र की महिमा बताई । श्रावक धर्म और साधु धर्म पर उपदेश दिया । उस समय राजकुमार अभय ने श्रावक व्रत अंगीकार किये । श्रेणिक ने सम्यक्त्व स्वीकार किया । आने वाली परिषदा में भिन्न भिन्न तरीके के प्रत्याख्यान हुए । परिषदा

चली गई। श्रेणिक भी अपने परिवार सहित भाव वंदना कर अपने महलों में चले गये।

श्रेणिक राजा का ज्येष्ठ पुत्र मेघकुमार ने भी व्याख्यान सुना। हृदय में उतारा और महलों में आकर अपने माता पिता से नमन कर निवेदन किया कि मेरा मन अब दीक्षा लेने का हो गया है। संसार के माया जाल से ऊब गया है। मैं शीघ्र महावीर की शरण में जाना चाहता हूँ। माता पिता ने मेघकुमार के भावों और विचारों को सुना तो बड़े आश्चर्य में पड़े और शक्तिभर उसको समझाया। संयम मार्ग की दुष्करता और साधु जीवन की दुरूहता पर भांति भांति के उदाहरण देकर बहुत कुछ कहा। मेघकुमार अपने निश्चय पर अटल रहा। पिताने एक बार राज्य ग्रहण कर पुनः दीक्षा लेने का आग्रह किया। मेघकुमार ने मौन स्वीकृति दी। पिता को एक बार राज्य पद से अलंकृत करने पर मेघकुमार के विचार बदल जाने की पूरी संभावना थी। राज्याभिषेक के तमाम पूर्व कृत्य सानन्द संपन्न हुए। राज्याभिषिक्त मेघकुमार सिंहासन पर बैठा। राजा श्रेणिक ने राज्य की बागडोर सहर्ष सौंप दी।

राजा श्रेणिक ने उस दिन का कुछ अंश समय बीतने पर मेघकुमार को कहा-हे राजन् ! अब आपका क्या हुक्म है ? मेघकुमार ने—दीक्षा की तैयारी करने का आदेश दिया। राजा की आज्ञा श्रेणिक को माननी पड़ी। इस समय मेघकुमार श्रेणिक का पुत्र नहीं; अपितु राजा था। राजा मेघकुमार की आज्ञानुसार दीक्षा के पूर्व की तमाम तैयारियाँ पूर्ण हो गईं। हजारों पुरुषों द्वारा उठाई जाने वाली

पालकी में मेघकुमार सुशोभित हुए। श्रेणिक को दीक्षा देने के लिए आज्ञा प्रदान करनी पड़ी। जुलूस तीर्थंकर महावीर के समवसरण की ओर बढ़ा। जयध्वनियां और पुष्प वृष्टियां हो रही थी। विशाल जन समूह साथ साथ चल रहा था। समवसरण में प्रवेश पाकर श्रेणिक ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को तीर्थंकर महावीर की शरण में दीक्षित करने के लिए सुपूर्द कर दिया। मेघकुमार दीक्षित होकर साधु तीर्थ में सम्मिलित हो गये। जुलूस वापस यथा स्थान चला गया।

मेघकुमार के साधु बनने पर नवागत साधु की तरह सबसे छोटे गिने गये। पूर्व के सब साधुओं को नमन करना और सब में अन्त मे शयनासन लगाना, यह छोटे साधु का नियम था। एक राजा बना हुआ राजकुमार इस अपमान को सह नहीं सका। दूसरे दिन प्रातःकाल महावीर के सन्मुख उपस्थित हो, अपनी साधुचर्या पालने की असामर्थ्य को जताने लगा। तीर्थंकर वीर-प्रभु ने उसे जागृत किया और उद्बोध दिया। मेघकुमार तुमने पूर्व भव में हाथी के रूप में एक छोटे से जीव सुसले (शशक) की प्राण रक्षा की थी। उसके पुण्य प्रताप से मेघकुमार बने। बात इस प्रकार थी कि तुम मेरुप्रभ नाम के हाथी थे। तुम यूथपति थे। कई हथिनियों के परिवार से विन्ध्य पर्वत के एक तालाब के निकट रहते थे। जिस जंगल में तुम रहते थे देव योग से वायु से प्रेरित होकर बांसों की रगड़ से अग्नि देव जागृत हो गये और सारे जंगल में वायु वेग से प्रचण्डता धारण कर अग्नि फैल गई। जहां तुमने जंगल को साफ कर रखा था वहां अग्नि पहुंच नहीं सकी, उस सुरक्षित स्थान में सभी पशु पक्षी आ एकत्रित हुए। जगह छोटी थी और पशु बहुत थे।

जगह की संकुचना से एकत्रित वन्य पशुओं को सटकर जमना पडा। उस समय तुम्हारे अंग में खुजाल पैदा हुई और एक पैर ऊंचा किया, उस खाली जगह में एक खरगोश भयाक्रांत हो पैर के नीचे आकर बैठ गया। अपने आप को सुरक्षित किया। खुजाल करने के बाद ज्यों ही पैर नीचे किया, गुदगुदा लगने से तुमको ज्ञान हुआ कि कोई छोटा जीव पैर को ऊंचा करने से बनी जगह पर आकर बैठ गया है। तुम्हारे दिल में दया आई और पैर को नीचे नहीं रखा, पैर रखने से उसके प्राणों का अन्त हो जाता था। प्राणों की रक्षा के लिए तीन पैरों पर तुम घंटों खड़े रहे। इस क्रिया से अग्नि शांत होने पर जब सब जीव बिखर गये तो तुम्हारे शरीर में थकावट होकर कंपकंपी आ गई। इस कंपकंपी से अन्त में तुम्हारे प्राण छूट गये और इस तरह प्राणों की बलि देने से आज तुम्हें मेघकुमार का भव मिला है, श्रुत ज्ञान प्राप्त हुआ है। चारित्र धारण किया है वीर्य फोड़ने से तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जायगा। तुम शूरवीर क्षत्रिय पुत्र हो। संयम व्रत स्वीकार कर छोड़ना भीरुओं का काम है। सच्चे क्षत्रिय अपने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत कर जिन विजेता बनते हैं। तुम अपने पौरुष को पहचानों और पूर्व कृत कर्मों के फल की तुलना कर भविष्य के चारित्र धर्म को पुरुषार्थ से पालन करो। मानवों और साधुओं की ठोकरें खाकर वीर पुरुष निराहृत नहीं होते अपितु क्षमा धर्म को धारण कर महावीर बनते हैं। मानापमान सब सांसारिक जाल हैं। इनसे ऊपर उठो और आत्म-कल्याण के प्रशस्त मार्ग की ओर बढ़े चलो। मेघकुमार ! तुम अपनी शुद्ध बुद्ध एवं मुक्तावस्था को अल्पकाल में ही प्राप्त कर लोगे।

इस तरह तीर्थंकर वीर प्रभु के मर्म भरे वाक्य सुन कर मेघकुमार को जाति स्मृति ज्ञान पैदा हो गया और पूर्व भव के सारे वृत्तान्त से जानकार बन गया। मेघकुमार की चित्तवृत्तिस्थिर हुई और कठोर से कठोर तप की आराधना कर आगे जीवन में प्रगति करने लगा।

तीर्थंकर महावीर कई ग्राम नगरों में दिव्य संदेश देते हुए कुण्ड ग्राम की ओर पधारे। वहां की जनता ने महावीर के समवसरण की ओर बढ़कर उपदेश श्रवण किया। समवसरण में आगंतुक स्वकीय पुत्री श्री प्रियदर्शना और उसके पति जमाली ने दीक्षाव्रत अंगीकार किये। अन्य जनों ने सम्यक्त्व एवं चारित्र की भिन्न भिन्न श्रेणियों के त्यागप्रत्याख्यान किये। प्रियदर्शना के साथ अन्य महिलाओं ने भी दीक्षाएं ली। जमाली के ज्ञान और शास्त्रानुकूल क्रिया से प्रभावित हो तीर्थंकर वीर प्रभु ने उनको आचार्य पद प्रदान किया।

लेकिन आचार्य पद प्राप्ति के बाद जमाली को मान का भान हुआ और उनके विचारों में नवीनता हो गई। धीरे धीरे साधु समुदाय सहित अलग विचरने के भाव पैदा हुए और तीर्थंकर के तीर्थ से पृथक हो गये।

जमाली के साथ प्रियदर्शना भी अपनी साध्वियों के साथ पृथक विचरण करने लगी। इस तरह विहार करते करते श्रावस्ति नगरी में ढंक कुम्हार के यहां आकर ठहरी। ढंक कुम्हार तीर्थंकर महावीर का अनुयायी था। जमाली और प्रियदर्शना के विचार भेद से परिचित था। उसने प्रियदर्शना को सुमार्ग पर लाने के लिए अच्छा अवसर पाया और उसने अपने बर्तन के पकाने की आग में से एक अंगारा

प्रियदर्शना के ऊपर फेंका। प्रियदर्शना के शरीर के कपडे जलने लग गये। ढंक कुम्हार को क्रोधावेश में भली बुरी बातें कहकर कहने लगी कि मेरे कपड़े क्यों जला दिये?ढंक ने तत्काल उत्तर दिया--तुम्हारी मान्यता में तो जलते हुए को जले नहीं कह सकते। अभी तक तुम्हारे कपड़े जले नहीं हैं। थोड़ी सी आग पकडी है। तुम अपनी मान्यता को बदलो। व्यवहार में व्यवहार भाषा का प्रयोग करना सीखो। बोलो तुम्हारे कपड़े जले या नहीं? प्रियदर्शना ने कपड़ा जलना स्वीकार किया और अपनी मान्यता की भूल भी स्वीकार की। ढंक कुम्हार ने भूल का प्रायश्चित लेने और गलत मान्यता को छोड़कर महावीर की शरण में जाने का आग्रह किया। प्रियदर्शना अपनी साध्वियों सहित तीर्थंकर महावीर के पास गई और प्रायश्चित्त लेकर पुन: तीर्थं में विचरने लगी। उसका पति जमाली उल्टे विचारों में फंसा हुआ था। उसके कई शिष्य पुन: महावीर के तीर्थ में चले गये। जमाली कई दिनों भूखे रह कर अपने अंतिम दिन बिताने लगा। १५ दिन के पश्चात उसका मरण हो गया।

श्री गोतम गणधर जमाली की मृत्यु के पूर्व चम्पा नगरी के पूर्णभद्रवन में उनसे मिले। उसको समझाकर सही रास्ते पर लाने के लिये प्रयत्न किये, लेकिन निष्फल रहे। जगत की नित्यानित्य की विचार सरणि को जमाली ठीक तरह बता नहीं सके। मिथ्यात्व के उदय से जमाली ने अपनी हठधर्मी कायम रखी और तीर्थंकर के तीर्थ में बाहर रहकर शरीर छोड़ा। गोतम ने उसकी मृत्यु के पश्चात् जन्म लेने सम्बन्धी जानकारी तीर्थंकर वीर से चाही। महावीर ने देवलोक में जन्म लेने और बाद में कई दुखमय

जन्म मरण करने के पश्चात् शुद्ध मति मे शुद्ध चारित्र की पालना कर मुक्ति में जाने का विवरण बताया।

जमाली का महावीर के जामाता होने और प्रियदर्शना का पुत्री होने का उल्लेख श्वेताम्बर मतानुसार है। सही स्थिति का अवबोध इतिहास के पृष्ठों पर अंकन होने से हो सकता है। लेकिन पति पत्नी दोनों महावीर के तीर्थ में ऊंचे पद पर रहे। जमाली अलग होकर विचरता रहा। प्रियदर्शना पुनः तीर्थ में मिली।

तीर्थ के मुख्य श्रावक और श्राविकाएं—

तीर्थंकर महावीर विचरते हुए वाणिज्य ग्राम में पधारे। वहां पर जनता के बीच धर्मदेशना की। वहां का राजा जिन शत्रु स्वयं उपदेश सुनने आया। नगर सेठ आनंद गाथा पति भी वहां अपनी धर्म पत्नि शिवानंदा एवं परिवार से आये। व्याख्यान बड़ा रुचिकर हुआ। आनन्द को आनन्द का पारावार हो गया। हृदय की पवित्रता ने महावीर के गृहस्थ धर्म के बारहव्रतों की धारणा कराई। आनंद ने बारह व्रत धारण किये और धर्म पत्नि ने भी उनका साथ दिया। आनंद श्रावक बन गये। तीर्थ तृतीय पाये श्रावकों में उत्तम प्रशंसनीय श्रावक बने। उन्होंने महावीर की वाणी में विश्वास किया। विश्वास के अनुसार वर्तन रूप बारह व्रत धारण किये। धन की मर्यादाएं की। १२ क्रोड़ सोनेया का मालिक होने पर भी उससे ममता हटा दी। किसी भी व्यापार में धन के नष्ट होने से कभी भी दिमाग में दर्द नहीं हुआ। अच्छी कमाई मे हर्ष नहीं हुआ। जितना द्रव्य बढ़ता जाता गरीबों और सत्कार्यों में खर्च करता रहता।

अपने लोक व्यवहार को चलाने के लिए पशुओं की और खेती की देखभाल करता हुआ भी मोह मुक्त बना रहा। उसके वर्तन की प्रशंसा समय समय पर तीर्थंकर महावीर ने समवसरण में की है। अपना निजी जीवन सादा बना लिया। उनकी धर्म पत्नि शिवानंदा ने भी अपने पति के हर कार्य में साथ दिया। सामाइक आदि व्रतों की निरंतर उपासना करते हुए आत्मनिधि का संग्रह करते रहे। दोनों पति पत्नि तीर्थ के अभिन्न अंग बन कर महावीर तीर्थ की वृद्धि करने में तत्पर रहे। राजा और जनता में पूजे गये। आदर की दृष्टि से देखे जाते रहे। कुल, धर्म, नगर और राष्ट्र में उनके श्रावक व्रतों का पूर्ण प्रभाव पड़ा। उनके संपर्क में आने वाले सभी मित्र और साथी तीर्थ के अनुयायी बन गये। आनन्द गाथा पति (सेठ) तीर्थंकर महावीर के मुख्य श्रावकों में पहला श्रावक है, जिसने इस लोक में अपने धन का सदुपयोग किया। आत्मा की उन्नति की ओर अग्रसर होकर चारित्र धर्म की आराधना की। तीर्थंकर के तीर्थ को सभी क्षेत्रों में प्रवाहित करते रहे। हर जाति, हर धर्म और हर देश के संपर्क में आने वाले व्यक्ति को धर्म में स्थिर किया।

चम्पा नगरी के कामदेव ने भी तीर्थ में प्रवेश किया। श्रावक व्रत अंगीकार किये। उनकी पत्नि सुभद्रा ने श्राविका व्रत धारण किये। इस तरह गृहस्थ का पूर्णांग तीर्थ में सम्मिलित धर्मचक्र का विस्तार करने लगे। इनका अठारह क्रोड़ सौनैयां का धन था। धन धान्य से भरपूर गृहस्थी होने पर भी धर्म में अथक श्रम करने लगे। अपने द्रव्य और अधीनस्थ जनों से ममता हटा दी और धर्माराधना के लिए

उपाश्रय में बैठकर पौषध करने लगे। एक बार पौषध करते समय उनकी धर्माराधना से प्रभावित होकर देवने सही परीक्षा लेने की ठान ली। कामदेव को पौषधशाला में अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट दिये। हाथी, सिंह और सर्पादि के वैक्रय शरीरों से कामदेव को धर्माराधना से डिगाने के संकल्प कष्ट दिये। एक बार तो देव ने तलवार से शिरच्छेद तक करने की प्रक्रिया की। कामदेव अपने नियम से नहीं डिगा। तीर्थंकर महावीर ने उसकी धर्माराधना की समवसरण में भूरि भूरि प्रशंसा की।

वाराणसी और आलाम्भिका नगरियों में भी चुलणी-पिताजी, सुरादेवजी और चूलशतकजी नाम के महाजनों ने श्रावक के बारह बारह व्रत धारण किये। कंपिलपुर के कुंडकोलिक गृहस्थ ने भी बारह व्रत स्वीकार किये। उनकी धर्म पत्नी ने भी उनका साथ दिया। एक बार कुंड कोलिक ने अशोक वाटिका में अपने अलंकार एवं वस्त्र उतार कर सामाइक व्रत स्वीकार किया। देवने दिव्यालंकार और वस्त्रों को चुरा लिया। कुंडकोलिक के दिमाग पर एक सल भी नहीं पड़ा। ममता से ऊपर उठ चुका था। इसकी भी समवसरण में बड़ी प्रशंसा हुई। इनकी स्त्री का नाम पुंसा था। इनके भी १२ क्रोड़ सोनेया का धन था। साठ हजार गायें भी थी। कुंडकोलिक को देव ने गोशाला के तीर्थ में आने के लिये नानाविध कष्ट दिये। प्रश्न पूछे और गोशाला के तीर्थ की विशेषताएं बताई। लेकिन कुंड कोलिक ने अपने गृहित धर्म और पथ को नहीं छोड़ा।

पोलासपुर के सद्दाल पुत्र गोशाला के अनुयायी थे।

उनकी मान्यता नियतिवाद पर आश्रित थी। भगवान महावीर के दर्शन करने सद्दाल पुत्र गया और अपने यहां विनती कर लाया। महावीर ने उसकी शंका दूर करने के लिए उसके बनाये जाने वाले बर्तनों पर प्रश्न पूछा। सद्दाल पुत्र ये बर्तन कैसे बनाये गये ? सद्दाल पुत्र ने मिट्टी, पानी, अग्नि और श्रम से बनने का बताया।

महावीर ने श्रमजनित पुरुषार्थ, बलवीर्य का उसमें सहयोग होने का पूछा तो सद्दाल पुत्र ने इनकार कर दिया। तब वीर प्रभु ने कहा-यदि तुम्हारी पत्नि पर कोई बदमाश आक्रमण कर, बद कृत्य करने को तैयार हो जाय; तो तुम क्या करोगे ? सद्दाल पुत्र ने बदला लेने, मारने-पीटने और प्राणों से विरत करने तक की कार्यवाही करने का बताया। श्रमण भगवान महावीर ने पुनः पूछा कि ऐसा करने से नियतिवाद का तुम्हारा सिद्धांत नष्ट न होगा ? पुरुषार्थ करना यह क्रिया नियतिवाद के प्रतिकूल है। जो कुछ होना था सो हो रहा है, फिर तुम्हें उसमें रोष और प्रतिकार करने की आवश्यकता नहीं है। सद्दाल पुत्र को स्थिति समझ में आ गई और वह महावीर के समन्वय मार्ग का पथिक बन गया। गोशाला के प्रमुख श्रद्धाशील भक्त का महावीर के अनुगामी बनने पर गोशाला स्वयं उसके पास गया, लेकिन जो रंग चढ़ गया था उसमें फीका करना या उतारना अब गोशाला के वश की बात नहीं थी।

एक बार तीर्थंकर महावीर राजगृह में पधारे और वहां महाशतक और उनकी पत्नि रेवति ने भी श्रावक और श्राविका के बारह व्रत धारण किये। इस तरह बारह

श्रावक प्रमुखों ने और उनकी धर्म पत्नियों ने भगवान वीर प्रभु के तीर्थ में प्रवेश कर तीर्थ को खूब चमकाया। श्रावकों का जीवन नीतिमय, ममता रहित और दानशील, तप और भाव पूर्ण होता है। उनकी जीवनी का प्रकाश अन्य निकट के निवासियों, साथियों और सम्बन्धियों पर भी पड़ा, जिससे लाखों गृहस्थ गृहस्थियां, श्रावक श्राविका रूप तीर्थ में प्रवेश कर गये।

तीर्थंकर महावीर का धर्म चक्र तीर्थ प्रवर्तन कार्य चहुं दिशा वृद्धि को प्राप्त होने लगा। तीर्थ की स्थापना के बाद निरंतर तीर्थ की वृद्धि होती रही। श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी और अन्य श्रद्धाशील अनुयायियों की निरंतर वृद्धि और प्रचार क्रिया ने सारे उत्तर भारत में हल चल मचा दी। बिहार की बिहार भूमि में विहार करते हुए जंगम तीर्थ साधु और साध्वी वृन्द ने ज्ञानालोक फैला दिया। चारित्र के पालन स मानवों के हृदय में मानवता जागृत हुई। छुआ छूत, पाखंड, भेद--भाव और वैरभाव मानव जाति स दूर भागते गये। शांति और व्यवस्था सभी ग्रामों, नगरों और राष्ट्रों में फैलती गई।

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र—

तीर्थंकर महावीर विहार करते हुए पोतनपुर पहुंचे। वहां का राजा प्रसन्नचंद्र था। उसने भगवान की वाणी सुनी और हृदयंगम की। अपने दरबार में जाकर मंत्रियों से दीक्षा लेने की बात कही। मंत्री बिल्कुल इन्कार हो गये। उनका पुत्र गद्दी योग्य नहीं था। छोटा था। फिर भी प्रसन्नचंद्र ने अपनी आत्म निधि संचय करने की

ठान ली। किसी के समझायें नहीं माने। रानी, मंत्री और अन्य उद्भट विद्वान लोगों के वाक्य धरे के धरे ही रहे। राजा प्रसन्नचंद्र ने अपने पुत्र को सिंहासीन किया और मंत्रियों को पूरी जिम्मेदारी देकर भगवान वीर प्रभु की शरण में जा पहुंचे। तीर्थंकर महावीर ने प्रसन्नचंद्र को दीक्षित किया। राजा प्रसन्नचंद्र अब राजर्षि प्रसन्नचंद्र बन गये। कठोर तपस्या करने की ठान कर, भगवान् के आदेश से ध्यानस्थ मौन वृत्ति को धारण कर, आत्म लीन हो गये। राजर्षि प्रसन्नचंद्र वीर प्रभु के साथ ही आत्म-ध्यान और तप करते हुए विचरने लगे। एकदा राजगृह के पास उद्यान में भगवान ठहरे। राजर्षि प्रसन्नचंद्र ने निकट निर्वंद्य स्थान देखकर ध्यानस्थ मौन पूर्वक तपाराधना करने लगे। इधर राजा श्रेणिक ने भगवान के दर्शन करने की ठानी और अपने परिवार के साथ भगवान के समवसरण की ओर अग्रसर हुए। उनके साथ सुमुख और दुमुख दो सेना नायक भी थे। वे आगे आगे चल रहे थे। मार्ग में राजर्षि प्रसन्नचंद्र को ध्यानस्थ मौन दशा में खड़े देखकर वंदना की और दोनों आपस में संवाद करने लगे। संवाद राजर्षि के कानों में पड़े:—

सुमुख—दुर्मुख ! देखो, ये तपस्वी, ध्यानी शीघ्र संसार से मुक्त होते दिखते हैं। क्या ही इनकी तपोमुद्रा और क्या ही ध्यान वृत्ति।

दुर्मुख—भाई, मुझे तो ये स्वर्ग की ओर बढ़ने के प्रयत्न में रत राजा प्रसन्नचंद्र दीखते हैं।

सुमुख—वास्तव में ये वे ही हैं। लेकिन राज्य छोड़कर इस दशा में क्यों आये ?

दुर्मुख—सुमुख ! अरे, इनको अपनी पड़ी है। राज्य का सत्यानाश हो रहा है। छोटे से बच्चे को राज्य शासन सौंप कर चले आने पर मंत्री सभी मनमानी करने लगे हैं। राजा ने मंत्रियों पर विश्वास किया था। वे ही मंत्री आज राजा दधिवाहन से सांठ गांठ कर रहे हैं। राज माताएं बाहर निकाल दी गई हैं। वे कहीं मारी मारी फिर रही हैं। छोटे बच्चे की भी घात मे लगे हुए हैं। इस आत्म कल्याण कार्य में क्या धरा ? जिसकी जिम्मेदारी इनको निभानी थी उनको अधर में छोड़ अपने स्वार्थ पर आ उतरे हैं। धिक्कार है, ऐसे सन्यास लेने को। प्रजा को दुःखी छोड़कर, राज्य को नष्ट भ्रष्ट करने की हालत में बना कर, अपने परिवार को जंगल में दुख उठाते हुए जानकर तथा अपने छोटे बच्चे की कोई परवाह नहीं कर आये हैं यहां अपना कल्याण करने। ऐसे वैराग्य को धिक्कार है।

सुमुख—भाई दुर्मुख ! एक बात है, राजा अब भी जाकर राज्य भार सम्भाल ले तो सब ठीक हो सकता है। संसार सब स्वार्थ का सगा है। पक्षी सूखे वृक्ष को, पशु जले जंगल को और मानव उजड़ी बस्ती को छोड़कर चले जाते हैं। जब तक मंत्री प्रसन्नचंद्र के आधीन थे, अनुकूल थे। अब अपने स्वार्थ में पड़ गये हैं। राजा ही बिना मतलब का हो गया तो दूसरों का क्या कहना ? संसार के कार्यों और

परिवार जनों के मतलब को पूरा करने में राजा प्रसन्नचंद्र को बंधन मालूम पड़ता था। इसलिए वैराग्य ग्रहण किया है। यह इनकी नादानी है। समझदार आदमी कभी भी अपने ऊपर निर्भर परिवार और प्रजा को निरीह दुःखी छोड़ कर कभी नहीं जाते। जिम्मेदारी को नहीं समझना और अपने स्वार्थ की पूर्ति करना निरी मूर्खता है।

दोनों सुभटों का वार्तालाप सुनकर राजर्षि प्रसन्नचंद्र को क्रोध ने सताया और जोश ने स्थान पाया। गुस्से में भर कर राजर्षि ने मन ही मन मंत्रियों को भला बुरा कहा। पुत्र और पत्नियों की दुर्दशा ने उनके मन को झकझोर दिया। गुस्से में आकर अपने सिर पर हाथ डाला। हाथ डालते ही उनको मुनित्व का भान हुआ। इसी अवसर पर पीछे से श्रेणिक राजा भी आये। मार्ग में ध्यानस्थ खड़े राजर्षि को वंदना की और भगवान की शरण में पहुँचे।

श्रेणिक ने भगवान से राजर्षि प्रसन्नचंद्र के बारे में प्रश्न पूछे। भगवान ने नरक में जाने का और थोड़े समय बाद स्वर्ग की ओर बढ़ने का फरमाया। इसमें श्रेणिक को शंका हो गई। वीर ने श्रेणिक को भावों की तरतमता से गति में भी अन्तर पड़ जाने का समझाया। उसी समय राजर्षि प्रसन्नचंद्र को केवल ज्ञान होने का समाचार, जय-ध्वनियां एवं वाद्य यंत्रों की आवाज सुनाई पड़ी। श्रेणिक को तीर्थंकर वीर प्रभु ने उधर ध्यान देने को फरमाया। श्रेणिक ने हृदय में आल्हाद भर कर सब देखा, सुना। तीर्थंकर महावीर का यह साधुतीर्थ का राजर्षि प्रसन्नचन्द्र मुनि सर्वप्रथम मोक्ष गामी बना। तीर्थ में अति आनन्द की

वृद्धि हुई। सर्वत्र हर्ष छा गया। श्रेणिक राजा ने केवल ज्ञान के उत्सव को बड़े आनन्द से मनाया।

अर्जुन माली का उद्धार—

जब तीर्थंकर महावीर ने राजगृह नगरी के पास उद्यान में अपना विश्राम स्थल बनाया, तब मकाई नाम का सेठ उनके उपदेश से प्रभावित हो सर्व गृह कार्य पुत्र को संभला, दीक्षा लेली—भगवान के पधारने के समाचार सारे शहर में व्याप्त थे, लेकिन इस अवसर पर एक विचित्र घटना घट चुकी थी।

इस नगरी में छः दोस्त रहते थे। वे नित्य कोई नया उत्पात मचाते रहते थे। उनको राजा की तरफ से छूट थी। वे अकर्त्तव्य भी करते तो राजा दंड नहीं देता था। वे अमर अज तुल्य थे। एकबार छः ही मित्रों ने अर्जुन माली के बगीचे में प्रवेश किया। अर्जुन माली नित्य अपने फूल बाग में फूलों को चुनता, उसके साथ उसकी धर्म पत्नी भी फूल चुनती और फूलों से वहां पुरातन समय से स्थापित यक्ष की पूजा करते। बाद में बाजार में जाकर बेचकर अपना उदर पोषण करते थे। प्रतिदिन इसी प्रकार की उनकी चर्या थी। अर्जुन माली और उसकी धर्म पत्नी दोनों फूलों के चयन-कार्य में लगे हुए थे। छः ही मित्रों ने उसकी बंधुमती भार्या को फूल चुनते समय देखा। वह बड़ी सुन्दर स्त्री थी। छःहों मित्रों ने उसके साथ भोग भोगने की कामना की। वे यक्षायतन में जाकर छिप गये। जब अर्जुन माली फूलों को लेकर पूजा करने मंदिर में प्रवेश करने लगा तो मंदिर के द्वार के पीछे छिपे छःहों मित्रों ने उसको मुश्कि बंधन से बांध

दिया और उसकी पत्नी को पकड़ कर उसके साथ मैथुन क्रियाएं की। अर्जुन माली ने यह सब अपनी आंखों देखा। वह बड़ा दुखित हो, उसके शूलपाणि यक्ष से प्रार्थना करने लगा कि मेरे पूर्वज और मैंने तुम्हारी पूजा करते करते आज तक सम्मान की दृष्टि से तुम्हें देखा है। आज मेरी ही आंखों के सामने तुम्हारे ही मंदिर में ये छः दुष्ट मेरी स्त्री के साथ भोग कर रहे हैं। तुम्हें कुछ भी दर्द नहीं। यदि तुम्हारे में सच्चाई है और तुम वास्तव में यक्ष रूपमें यहां मूर्ति में रहते हो तो इन सब को मृत्यु के निकट पहुंचाओ। यदि ऐसा नहीं हुआ तो मैं समझूंगा तुम झूठे हो और हमें और हमारे पूर्वजों को आज दिन तक धोखा दिया है। मैं बहुत दुःखी हूँ। मेरी आंखों से यह दृश्य देखकर जिन्दा नहीं रहना चाहता और न इन्हें जिन्दा देखना चाहता हूँ।

ऐसी प्रार्थना को सुन शूलपाणि यक्ष अर्जुन माली के शरीर में प्रवेश कर गया और वहां पड़ी लोहे की मनों बोझ की गदा हाथ में उठाली। बंधन टूट गये और जोश में आकर अर्जुन माली ने छःहों मित्रों सहित अपनी पत्नी को जान से मार दिया। अब अर्जुन माली इसी तरह प्रतिदिन छः पुरुष और एक स्त्री को मारता हुआ, इधर उधर फिरने लगा। राज्य की तरफ से घोषणा करादी कि कोई भी स्त्री और पुरुष उस दरवाज़े की तरफ इंधन लेने, कृषि करने या बाहर यात्रा करने न जावें, जिधर अर्जुन माली गदा लेकर घूम रहा है। उसको मारने के सभी उपाय निष्फल गये हैं। राज्य उसको अधिकार में भी नहीं कर पा रहा है। जो भी स्त्री-पुरुष उधर जायेंगे, उसकी जिम्मेदारी राज्य सरकार की नहीं है। इस घोषणा से कोई भी स्त्री-पुरुष उधर की तरफ नहीं

आता था। फिर भी भूले भटके जो स्त्री पुरुष आते उनको अर्जुन माली (यक्षव्याप्त) उन्हें मार डालता था।

इसी अवसर पर भगवान महावीर पधारे और उनके दर्शन के अभिलाषी सुदर्शन सेठ ने उनके माता-पिता को भगवान के दर्शन के लिए जाने की आज्ञा देने को निवेदन किया। माता-पिता ने जो संकट सामने था और जो राज्याज्ञा थी, वह सुनादी। लेकिन सुदर्शन श्रावक भगवान के दर्शन बिना आहार लेने का भी त्याग कर चुका था। दर्शन की तीव्र अभिलाषा ने माता-पिता और राज्याज्ञा की भी परवाह नहीं की और वे उसी द्वार की तरफ बढ़े चले, जिधर अर्जुन माली वर्तमान था। उसी द्वार से भगवान के निकट पहुंचा जा सकता था।

श्री सुदर्शन सेठ द्वार के बाहर निकले कि अर्जुन माली तत्काल लपक कर सामने आ पहुंचा। सुदर्शन ने उसे आते देख; निर्भय हो ध्यान मुद्रा स्वीकार कर ली। सागारी संथारा भी पच्चक्ख लिया। अर्जुन माली ने अपने हाथ के मुद्गल को प्रहार करने के लिए ज्योंही हाथ ऊपर उठाया, हाथ ऊपर का ऊपर ही रह गया। बिलबिलाता हुआ क्रोधावेश में खूब ऊंचा नीचा फूदका, लेकिन हाथ का प्रहार श्री सुदर्शन श्रावक पर नहीं कर सका। हैरान होकर वह सुदर्शन की ओर एक टकी देखने लगा। ज्यों ज्यों उसकी दृष्टि सुदर्शन की दृष्टि से मिलती गई क्रोधावेश ठंडा होता गया और यहां तक कि दृष्टि मिलन के दिव्य प्रयोग से अर्जुन माली के शरीर से यक्ष का अंश निकल गया। अर्जुन माली टूटे वृक्ष के भांति पृथ्वी पर गिर पड़ा। सुदर्शन ने

अपनी विपत्ति को दूर होते देख ध्यान पाला और अर्जुन माली को उठाने लगा। अर्जुन माली होंश में आया और सुदर्शन के पैरों में गिर पड़ा। अपना भान आया। वह भी वीर–प्रभु की शरण में जाने को उद्यत हो गया। सुदर्शन के साथ अर्जुन माली तीर्थंकर महावीर के समवसरण में पहुँचा।

सुदर्शन सेठ भगवान की वाणी सुनकर वंदना कर अपने निवास स्थान पर वापस लौट पड़ा। लेकिन अर्जुन माली ने भगवान के तीर्थ में दीक्षा अंगीकार की। अर्जुनमाली को पूर्व का सभी भान हो आया। उसको बड़ा पश्चाताप हुआ। अपने किये कर्मों से छुटकारा पाने के लिए तप रूपी निर्जरा के पथ को स्वीकार किया। अर्जुन माली के दीक्षित होने पर सारे नगर में शांति का वातावरण फैल गया। राज्य की तरफ से विचरने की आज्ञा हो चुकी थी। सभी जनसमुदाय तीर्थंकर की शरण में आया। व्याख्यान सुना। जिसको जो जंचा व्रत,महाव्रत अंगीकार किये। परिषदा वापस बिखर गई। लेकिन कुछ लोग वहां मुनिरूप में खड़े अर्जुन माली को देखकर क्रोध करने लगे। लेकिन समवसरण की शांतिछटा ने वेग को शांत कर दिया।

अर्जुन माली आहार निमित नगर मे गया तो जिन २ के परिवार के मानव एवं स्त्री की मृत्यु अर्जुन माली ने की, उन २ परिवार के लोगों ने उनको खूब पीटा और गालियां दीं। पत्थर की मारें मारी। अत्यंत वेदना प्राप्त करते हुए अर्जुन माली शान्त चित्र से वैराग्य में स्थिर रहते हुए मुनि व्रत पालन करने लगे। धीरे २ कर्मों का क्षय करने लगे। सभी प्रकार की यातनाओं को सहते हुए तपस्या एवं ध्यान–

आदिकृत्यों को करते हुए अर्जुन मुनि ने मुक्ति को वरण कर अपने जीवन को धन्य बना दिया।

संसार में ऐसे अनेक पुरुष और स्त्रियां हैं जिन्हें ममता, वासना और अहंकार के वश होकर पाप कृत्य करने पड़ते हैं और उसका फल किंविपाक फल के समान भुगतना पड़ता है। किये कर्मों का फल पाये बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। तीर्थंकर महावीर ने संख्या बंध मानव मानवियों को मुक्ति की सुराह बताई। आज अर्जुन माली जैसा नीच कुलोत्पन्न व्यक्ति भी उनके परिवार का सदस्य बन कर आत्मोद्धार करने में सफल बना। स्वयं तिरने वाले और अन्य को तारण करने वाले जहाज के समान तीर्थंकर महावीर उस समय के महान् अवतारी, महापुरुष, युग प्रवर्तक, पुरुषोत्तम, तीर्थंकर और परमात्मा थे। जन्म जन्मान्तरों के वैर, दुःख, संताप और मोह का नाश कराकर अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं आनंद तथा अनन्त वीर्य का लाभ देने वाले उत्तम पुरुषों को धन्य है।

राजगृही को तीर्थंकर महावीर ने क्षत्रियों की नगरी बना डाली राजगृही के कर्म से क्षत्रिय बनने वाले षड्जीव-निकायों की रक्षा करनेवाले और दीक्षा व्रत धारण करने वालों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही थी। उनकी कृपा का फल राजगृही ने चखा और राजगृही धन्य बन गई। राजगृही ने तीर्थंकर के तीर्थ का राज्य गृहण कर लिया। तीर्थराज तीर्थंकर को पा लिया। राजगृही के वीर क्षमाशील आत्मा-नुरागी निवासियों में कासव, वीर, मेघ आदि उत्तम पुरुष थे, जिन्होंने दीक्षा धारण कर तीर्थ की शोभा बढ़ाई और आत्म कल्याण कर मुक्ति लक्ष्मी को वरण करने आगे बढ़े।

इसी तरह काकन्दी के क्षेत्र और धृतिधर महान् प्रतापी मानवों ने भी दीक्षा व्रत धारण कर जीवन दीपाया। साकेत ग्राम के कैलाश और हरिचन्दन श्रावस्ति के श्रमण भद्र और सुप्रतिष्ठित और वाणिया ग्राम के सुदर्शन श्रेष्ठि आदि ने दीक्षाएं धारण की और तीर्थ की शोभा बढ़ा आत्म कल्याण किया तथा धर्म का प्रसार किया। सभी उपरोक्त महानात्मा अन्त में मोक्ष पद प्राप्त कर अनन्त आनन्द में लीन हो गये।

बड़ी बड़ी उम्र के मानव मानवियों ने ही भगवान की शरण नहीं ली,अपितु छोटी छोटी उम्र के कई राजकुमारों ने भी तीर्थ में प्रवेश कर तीर्थ प्रवर्तन में सहयोग किया। कुवेदों के प्रचार को रोका और सुवेद-प्रचार के कार्य में जनता को सही मार्ग का आनद दिलाया। राजा प्रजा दोनों इहलौकिक आनन्द की अनुभूति के साथ स्वर्गीय आनन्द का लाभ लेने लगे। आत्मिक आनन्द का लाभ लेने वाले भव्य प्राणियों की भी हृदय ग्रन्थियां खुल गई सभी तीर्थंकर की शरण में जाकर अपने सुकृत्यों मे आत्मानन्द को प्राप्त करने लगे।

आपको ऐसे एक छोटी उम्र के आत्मार्थी की कथा संक्षिप्त में नीचे लिख बता रहा हूँ कि किस तरह वह दीक्षित हुए और किस तरह आत्मकल्याण कर मुक्ति में गये।

बाल–साधु एवंत कुमार—

तीर्थंकर महावीर एकदा विहार करते हुए पोलासपुर को पधारे। पोलासपुर का राजा विक्रम बड़ा धर्मानुरागी था। उसका पुत्र एवंतकुमार बड़ा भाग्यशाली निकला।

गोतम गणधर दो उपवास के पारणे के दिन आहार की गवेषणा करने पोलासपुर के उत्तम, मध्यम एवं नीचकुलों में विचर रहे थे। निर्दोष आहार की एषणा करते हुए जहां राजकुमार एवन्ता, अन्य नगर बालकों के साथ खेल रहा था; उधर जा पहुंचे। मुनि वेष को देखकर एवन्त ने उनसे पूछा- "आप कौन हैं ? कहां रहते हैं ? और इधर क्यों पधारे हैं" ? गौतम ने उत्तर दिया-"मैं तीर्थंकर महावीर के तीर्थ का एक साधु हूँ,उन्हीं के पास ग्राम के बाहर उद्यान में रहता हूँ। आज मुझे तपस्या के पारणे का आहार लेना था, इसी निमित्त प्रासुक आहार की गवेषणा करता हुआ इधर आ पहुँचा हूं। एवन्तकुमार ने उनको कहा—आप मेरे साथ पधारिये मैं अपने घर पर ले चलता हूं मेरी माता से आपको निर्दोष-भिक्षा दिलाऊंगा।" यों कहकर गोतम गणधर के हाथ की अंगुली पकड़ कर, उनको अपने राजमहल में ले गया। दूर से गोतम को अपने पुत्र द्वारा हाथ पकड़ कर अपने द्वार पर लाते हुए माता ने देखा। बड़ी हर्षित हुई और दो पैर सामने गई। ससम्मान गोतम को अपने आहारगृह में लाई और प्रासुक भोजन दान किया।

गोतम स्वामी ने आहार ग्रहण कर वापस स्वस्थान की तरफ गमन किया तो एवंत कुमार ने गोतम से निवेदन किया कि मैं भी आपके यहां आना चाहता हूँ और आपके तीर्थंकर महावीर का दर्शन करना चाहता हूं। ऐसा निवेदन कर साथ हो लिया। एवंत राजकुमार बालक होते हुए भी तीर्थंकर की शरण में गया, भक्ति से वंदना कर आसन पर बैठा। तीर्थंकर महावीर ने उसे धर्ममार्ग की देशना दी। एवंतकुमार को विरक्ति हो आई। दीक्षित होने का निवेदन किया। इस

पर वीर-प्रभु ने उसके माता-पिता की आज्ञा से मुण्डन करने की स्वीकृति दी।

एवंत राजकुमार सीधा घर आया। राजमहल में अपने पिता राजा विक्रम और माता रानी को अपने विरक्त हो आत्म कल्याण करने के भाव निवेदन किये और दीक्षित होने की आज्ञा मांगी। राजा और रानी ने उसके अल्पवय की नादानी भरे शब्दों पर लापरवाही की और कहा कि अभी तुम छोटे नादान बच्चे हो, वैराग्य और आत्मज्ञान के विषय को क्या समझते हो ! जाओ अपने साथियों के साथ खेलो ! बालक एवंत ने पुनः माता-पिता को निवेदन किया कि मैं आत्म विषयक जानकार हूँ। मैंने तीर्थंकर वीरप्रभु की संगति की है। वे महान् जगत उद्धारक हैं। जैसे पारस के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है। वैसे ही उनकी शरण में गया बालक भी नादानी से दूर होकर ज्ञान प्राप्त कर लेता है। मैने उनसे आध्यात्मज्ञान सीखा है। मैं शीघ्र दीक्षित होना चाहता हूँ, आप आज्ञा दीजिये।

मातापिता ने उसे बहुत डाटा और भयभीत किया तथा उसे समझाया कि भगवान ने माता पिता की आज्ञा में रहकर काम करने का मना नहीं किया होगा। बालक का फर्ज है कि वह अपने माता-पिता की आज्ञा मानें और वे जैसा मार्ग बतावें उस पर गमन करे। एवंत मुनि ने माता पिता को कहा कि आप संसार में फसे हुए हो सत्य का बोध प्राप्त करने के लिए तीर्थंकर महावीर की संगति करना चाहिये। मैंने थोड़ा बहुत जाना है, वह उन्हीं का प्रताप है। माता पिता ने पुनः पूछा—तुमने क्या जाना ? छोटा बच्चा क्या

समझ सकता है। एवंत कुमार ने कहा—"जो मैं जानता हूं, वह मैं नहीं जानता हूं और जो मैं नहीं जानता हूं, वह मैं जानता हूं।" ऐसा अटपटा उत्तर सुनकर माता पिता दोनों आश्चर्य में पड़ गये और इस वाक्य का अर्थ पूछने लगे।

एवंतकुमार ने कहा—अम्मापियों। मैं जानता हूं कि जो जन्मा है वह अवश्य मरेगा। "जातस्यहि ध्रुवो मृत्यु" लेकिन यह जानता हुआ भी नहीं जानता कि कब, कहां और किस तरह मृत्यु को वरण करूंगा। मैं नहीं जानता कि किन २ कर्मों से जीव नरक, स्वर्ग और मानव आयु का बंध करते हैं। लेकिन यह जानता हूं कि अशुभ कर्मों से अशुभ गति एवं अशुभ पदार्थों का संयोग होता है और शुभ कर्मों से स्वर्गादिका लाभ मिलता है। इस तरह कई प्रश्नोत्तर राजा रानी और पुत्र के बीच हुए। अन्त में दोनों ने उसके ज्ञान के सामने घुटने टेक दिये और दीक्षित होने की आज्ञा दे दी। एवंत कुमार आज्ञा प्राप्त कर भगवान की शरण में आये और भगवती दीक्षा ग्रहण कर निर्ग्रन्थ बन गये।

एक दिन की बात है कि एवंत मुनि शौचादिकृत्य से जंगल में गये। दूसरे साधु भी गये। रास्ते में वर्षा होने से पानी बह रहा था। बालमुक्ति को खेल सूझा और बहते हुए पानी को मिट्टी की पाल बांध रोक लिया और उसमें अपने पात्र को तिराने लगा। यह खेल देखकर अन्य मुनियों को शंका हुई कि तीर्थंकर ने कैसे २ नादान बच्चों को मुन्ड लिया है, जो साधुचर्या को नहीं समझता और कच्चे पानी में खेल रहा है। इस शंका से साधु शंकित हुए और तीर्थंकर के निवास स्थान पर पहुंचे। तीर्थंकर वीर प्रभु ने उस बालक को

सरलता के बाल सुलभकृत्य को आगे होने वाले आत्मिक उन्नति का आभास बताया। बालक द्वारा बेसमझी से किये ऐसे कृत्य क्षम्य हैं और ऐसे बालक अपनी आत्मा की भावी उन्नति शीघ्र करने वाले हैं। जैसे पानी में नाव तिराकर अपना बाल सुलभ कार्य खेल किया उसी तरह यह नादान बालक एवंत कुमार तपस्यादि धार्मिक कृत्यों से शीघ्र अपनी आत्माको तार देगा। अंत में एवंत कुमार ने अपनी आत्मा का उद्धार किया। भवसागर से अपनी आत्मा को तार लिया।

बाणारसी में अलखनाम के राजा थे। तीर्थंकर जब बाणारसी में पधारे तो वह भी उनके समवसरण में गया। वन्दना की। उपदेश सुना। उपदेश ने अलख को विरक्त बना दिया। तीर्थंकर की शरण में दीक्षाव्रत अंगीकार करने का निर्णय ले लिया। अपने राज महलों में आकर बड़े पुत्र को राज्य का शासन सूत्र संभला, दीक्षा लेने तीर्थंकर की शरण में आ गये। तीर्थंकर ने दीक्षित कर तीर्थ में प्रवेश दिया। अलख मुनि बनकर अपना आत्म कल्याण कर संसार को परत किया। आत्मानंद एवं निजानंद को वरण कर सिद्धि प्राप्त की।

सम्राट श्रेणिक श्रमणोपासक बने—

तीर्थंकर महावीर के संसर्ग में आते आते एक बार मगध के सम्राट श्रेणिक बिंबसार उनके अनुयायी बन गये। इन्हीं दिनों जंगल में शिकार खेलने सम्राट् श्रेणिक गया और रास्ते में अनाथी मुनि के, ध्यानस्थ खड़े थे दर्शन किये। उनके अलौकिक मुखाकार का दर्शन कर सम्राट्

श्रेणिकने उनके इस तरह विरक्त होने का कारण पूछा। सम्राट् श्रेणिक ने अपनी सारी धन संपदा उनके चरणों में अर्पित कर उनके नाथ बनने को तैयार हो गये। अनाथी मुनि ने सम्राट् श्रेणिक को बताया कि मैं तो अब अनाथ से सनाथ बन गया। मेरी आत्मा का मैं ही मालिक बन गया। मैंने तीर्थंकर महावीर परमात्मा को पा लिया है। सम्राट् होकर भी हे श्रेणिक तुम अनाथ हो। तुम जन्म मृत्यु के चक्कर में फंसे हुए हो। मृत्यु के दास हो। धन दौलत के भिखारी हो। राज्य शासन के नाथ नहीं अपितु अनाथ हो। तुम्हें ये सब एक दिन धक्का दे देंगे। तुमको इस दुनियां से अकेला जाना पड़ेगा। कोई भी रक्षण करने में समर्थ नहीं है। तुम तुम्हारी रक्षा ही स्वयं नहीं कर पाते तो मेरे नाथ बनने की क्या योग्यता रखते हो। जाओ तुम भी तीर्थंकर की शरण में जाओ और उनको अपना नाथ बना,सनाथ बनो! तीर्थंकर महावीर के एक साधु अनाथी मुनि के दिव्य उपदेश से सम्राट् श्रेणिक तीर्थंकर का अनन्य उपासक बन गया।

शालिभद्र का ऋद्धि त्याग—

तीर्थंकर महावीर राजगृही में पधारे तब शालिभद्र नाम के क्रोडपति ने उनकी शरण में दीक्षा लेने की विनती की। महावीर ने पर-पदार्थों के संसर्ग से दूर रहने का उपदेश दिया। उन्होंने तत्काल क्रोडों की सम्पति और अन्य ऐश्वर्य को ठुकरा दिया और दीक्षा व्रत स्वीकार कर लिया।

इनका संक्षिप्त वैभव वृद्धि और सम्मान का वर्णन इस प्रकार है। एक बार राजा श्रेणिक भी शालिभद्र से मिलने और भेंट लेने को आये। शालि भद्र जी को श्रेणिक के

आने से कोई हर्ष नही हुआ। यहां तक कि उनको उनकी माता के कहने पर कि आज अपने घर इस नगरी के मालिक आये हैं, शालिभद्र ने बेपरवाही से उत्तर दिया—ऊंचेनीचे भावों में जो चाहो दे दो और अपने घर में यथा स्थान व्यवस्थित कर दो।

पूर्वभव—

राजगृही के निकट शालि नाम की छोटी सी बस्ती में एक निर्धन महिला आकर बसी थी। उसका नाम धन्या था। धन्या नाम में वैभव शीलता का अनुभव होता है, लेकिन वह अपने पुत्र के अलावा कोई ऐश्वर्यशील वस्तु नहीं रखती थी। उसने अपने पुत्रको पेट पालने के लिए इस बस्ती के ढोर चराने का कार्य सौंपा। पुत्र का जंगलों में जाने और अकेला रहने का कार्य यद्यपि माता को बड़ा बुरा लग रहा था फिर भी पेट पूर्ति के लिए सब सहना पड़ता है। पुत्र का नाम संगम था। पुत्र ने एक दिन पड़ौसियों के यहां मिष्टान्न बनते देखा तो उसने अपनी माता से भी खीर बनाने का आग्रह किया। माता ने अपनी गरीबी की असमर्थता का बोध कराया, लेकिन बालक इस बातको क्या समझे; वह जोरों से रोने लगा उसका रोना सुन आसपास के पडोसी इकट्ठे हो गये और उन्होंने खीर का सामान इकट्ठा कर धन्या को दे दिया। धन्या ने खीर बनाकर संगम को थाली में परोसी। बालक खीर खाने को मुंह की ओर हाथ ले जाने लगा कि एक मुनिराज को सन्मुख गोचरी के लिए आते देखा। खीर मुंहमे डालना छोड़ मुनि के सन्मुख जाकर उनकी अगवानी की तथा अपनी थाली की खीर मुनिराज के पात्र में डालदी। मुनि के एक मास के व्रत का पारणा था। इधर संगम के उध-

भाव थे । ऐसे अनुकूल व्यवहार में संगम ने पुण्योपार्जन कर लिया । इसके बाद भी माता ने जब उसकी थाली को खाली देखा तो बर्तन में बची सारी खीर उसको परोस दी । बच्चे ने खीर खाई लेकिन उसी समय पेट में दर्द पैदा हो गया । बच्चे के दर्द ने दम तोड़ डाला लेकिन अंतिम क्षण तक मुनिराज के प्रति अतुल प्रेम का प्रवाह बह रहा था। मास क्षमण के पारणे में इतनी सी खीर से क्या होगा । कैसे शांत, गंभीर और निर्वेद रूप मुनिराज है, जो दिया सो ले गये । चितवना भरे विचार प्रवाह में संगम ने देह त्याग दी ।

वर्तमान —

इस शरीर त्याग के बाद इसी राजगृही में उसी बालक संगम की आत्मा ने गो भद्र सेठ के यहां भद्रा के आत्मज रूप में जन्म लिया । माता-पिता ने गर्भ धारण के समय आये शालि के स्वप्न को ध्यान में रख कर पुत्र का नाम शालि भद्र रखा । गो भद्र बहुत बड़ा व्यापारी था । अखूट धन का धनी था । अतः उसके पुत्र शालिभद्र के साथ, विद्याध्ययन करने बाद युवावस्था प्राप्त होने पर कई देश-विदेश के धनिक अपनी कन्याओं का सम्बन्ध करना चाहते थे । शालिभद्र को ३२ कन्याओं के साथ विवाह करने पड़े और करोड़ों रुपयों का द्रव्य भी उन कन्याओं के साथ प्राप्त हुआ । उनको भोग विलास में इतना आसक्त होना, दुनियांदारी का अनुभव नहीं करा सका । इसीलिए सम्राट श्रेणिक के घर आने पर भी उनका आदर सम्मान का भान नहीं रहा । उनको यह मालूम नही था कि राजगृही में भी मेरे सिर पर कोई और मालिक है । उसको श्रेणिक सम्राट है, इसका पता नहीं था ।

इतना ऐश्वर्य मग्न और भोगे विलास मे लग्न था कि बाहरी संसार का ज्ञान नहीं के बराबर था।

महावीर से गो भद्र सेठ दीक्षित होकर कठोर तपस्याओं से शरीर सुखाते इन्द्रिय दमन करते और पुण्यार्जन करते हुए स्वर्ग में जा पहुँचे। वहां उन्हें अवधि ज्ञान से अपने पुत्र की पूर्वभव की स्थिति एवं पुण्यों का ज्ञान हुआ। स्वर्गस्थ गो भद्र की आत्मा ने शालिभद्र को खूब असन, वसन एवं ऐश्वर्य का साधन जुटाया। इस तरह धन्ना शालिभद्र दिव्य भोगों को भोगता हुआ धन्ना सेठ से भी बढ़ गया। धन्ना शालिभद्र की ऋद्धि का आज भी वैश्य लोग अपने चोपड़ों और बहियों में दीपावली की पूजन के समय लेख लिखते हैं। उसकी ऋद्धि की चाह में सदा अमर उल्लेख अभी तक चला आ रहा है। उसकी ऋद्धि का एक वर्णन इस प्रकार है कि बाहर के बड़े बड़े व्यापारी रत्न-कम्बल बेचने के लिए राजगृही मे आये। और सम्राट् श्रेणिक के पास अपने कम्बल प्रस्तुत किये। सम्राट् ने उन कम्बलों की कीमत सुनकर खरीदने की असमर्थता प्रकट की। व्यापारी निराश हो, राजगृही के मध्य राज मार्ग से जा रहे थे तो एक दलाल ने उनको शालि भद्र के यहां प्रयत्न करने के लिए प्रेरणा दी। वह और व्यापारी शालि भद्र के यहां गये। शालि भद्र तो भोग विलास में गृद्ध था। उसकी माता ने व्यापारियों के कम्बल देखे और सभी खरीद कर रख लिये। मुंह मांगा पैसा दिया और विदा किये।

इन्हीं रत्न कम्बलों की चर्चा सारे शहर में फैल गई और सम्राट् श्रेणिक ने जब यह बात सुनी तो बड़ा आश्चर्य

हुआ कि क्या मेरे से भी अधिक धनवान मेरे नगर में वर्तमान है। मैं आज ही वहां जाऊं और उसके दर्शन और मिलन से तुष्ट होऊं। आज जैसे ईर्षालु और धन के लुटेरे राज्यकर्त्ता उस समय नहीं थे। सम्राट श्रेणिक की पत्नी साम्राज्ञी चेतना को भी रत्न कम्बल खरीदने का ध्यान आया। लेकिन रत्न-कम्बलें सबकी सब गो भद्र सेठ के पुत्र शालि भद्र की माता ने खरीद ली थीं। अतः सम्राट् ने शालि भद्र को अपने दरबार में बुलाने का आदेश दिया। जब राज सेवक उनके द्वार पर गये तो शालि भद्र की माता ने उन्हें कहा कि वह तो आनन्द में मग्न है, उसे इस दुनियां की कोई खबर नहीं। आप मुझे जो भी आज्ञा हो फरमाइये। आप कहें तो सम्राट् से मिलने मैं स्वयं उपस्थित हो सकती हूँ।

राज सेवकों की स्वीकृति पाकर भद्र सेठानी सम्राट् के राज दरबार में उपस्थित हुई और बड़े नम्र भाव से वंदन कर यथास्थान बैठ गई। सम्राट श्रेणिक को निवेदन करने लगी-हे सम्राट! आपने मुझे गरीब के पुत्र को याद किया उसके लिए मैं धन्य बनी हूँ। मेरा पुत्र कभी घर से बाहर निकला नहीं अतः व्यवहार से अनभिज्ञ है। यदि आप मेरा घर पावन करें तो मैं सभी प्रकार की सेवा करने को तत्पर हूं। राजा ने शालि भद्र के घर पर आने की स्वीकृति दे दी। भद्रा ने राजद्वार से अपने घर तक के सभी रास्ते सजाये और अगवानी की। जितनी व्यवस्था कर सकती थी कीं। सारे रास्ते में रत्न मंडित, रत्न जटित मखमल, चौकियां, वंदन वारें और बिछायतें की गई। सम्राट् जब उस मार्ग से गुजरा तो हृदय में बड़ा खुश हो रहा था कि मेरे राज्य में भी इतना धनवान है। मुझे ऐसे धनिक पर बड़ा गर्व है।

ज्योंही मार्ग पर स्वागत पाता हुआ शालिभद्र के घर पर पहुँचा तो भवनों की भव्यता देखकर चकित हो गया। ज्यों ज्यों सम्राट् मंजिलों पर चढ़ता गया, अपार वैभव और अपूर्व सजावट तथा क्रीड़ों के ऐश्वर्य को देखकर, अपने आपको भूल गया। जब वह छठवें मंजिल पर पहुँचा तो एक रत्न जटित पीठिका पर आसीन हुआ। भद्रा ने बड़े आनन्द एव मंगल वचनों से उसका स्वागत कर, अपने पुत्र को बुलाने ऊपर के मंजिल पर गई। पुत्र ने माता के मुँह से सम्राट् के आने और उसके ऊपर उसका शासन होने के समाचार सुने, तो वह बड़ा दुखित हुआ। उसे ज्ञान हुआ कि मेरे सिर पर भी कोई नाथ है। मै आज तक नहीं समझ पाया कि मेरे ऊपर शासन करने वाला और हुकुम चलाने वाला भी इस दुनियां में कोई है? यदि ऐसा कोई है, तो मुझे इस वैभव की दरकार नहीं। जब माता ने बड़े नम्र भावों से पुनः उसे कहा कि अपनी नगरी के स्वामी हैं, वे बड़ी देर से तुम्हारा इन्तजार कर रहे है, शीघ्र उठो और चलो, उनके पास जाकर नमन कर वार्तालाप करो। बड़े बुझे मन से शालिभद्र उठा और माता के साथ हो लिया।

जहां सम्राट् श्रेणिक बैठा हुआ था, वहां शालिभद्र आया और उनको नमन किया। श्रेणिक ने उसे अपनी गोद में बिठाया और बड़ा प्रेम किया। माता की विनय से श्रेणिक ने उसके पुत्र को चूम कर जाने की आज्ञा दे दी। शालिभद्र राजा के पास से कमरे में गया और वहां उसके विचार वेग बढ़ने गये, आत्मा की उन्नति के लिए दीक्षा व्रत लेने के विचार सुदृढ़ हो गये। वह स्वतंत्रता का पुजारी परतंत्रता को कब पसंद करता था। इन्हीं विचारों से वीर की

शरण पकड़ी थी और उसने अपने संपूर्ण ऐश्वर्य, ऋद्धि और सामग्री तथा बड़े भरे पूरे परिवार को छोड़ दीक्षा ले ली। शालिभद्र के संसार त्याग में तत्परता लाने में धनाऊ सेठ और सुभद्रा बहुत बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। विचरते हुए राजगृही में पुनः महावीर पधारे, तब धनाऊ मुनि और शालिभद्र मुनि भी साथ थे। दोनों के मासिक तप का पारणा था। वीर की वाणी ने माता के हाथ से आहार पानी का लाभ मिलने का फरमान किया। दोनों मुनियों ने सोचा कि वीर के वचन सत्य होते हैं, अतः सीधे शालिभद्र के घर ही चले चलें। जब वहां पहुँचे तो द्वारपाल ने घर में प्रवेश करने से रोक दिया और कहा कि शालिभद्र की माता और उनका सारा परिवार भगवान वीर के दर्शन करने गया है। घर में कोई नहीं है, आहार नहीं मिलने का। अतः आप दोनों दूसरे घरों की ओर बढ़िये। ज्यों ही शालिभद्र के घर से वे दोनों मुड़े, एक ग्वालिन के दर्शन हुए, वह दूध दही बेचने को राजगृही में आई थी। उसको शालिभद्र को देखते ही पूर्व भव के बच्चे की याद आगई और दोनों मुनियों को दूध दही का आहार देने की प्रार्थना की। दोनों ने उस ग्वालिन की उच्च भावना देख कर दूध दही ग्रहण कर लिया और भगवान के ठहरने के स्थान पर वापस लौट चले।

दोनों मुनियों ने भगवान को घटित घटना वर्णन की, तब भगवान ने शालिभद्र के पूर्व भव की कथा का ज्ञान कराया और दूध दही देने वाली उसी की पूर्व भव की माता बताई। दोनों मुनि तीर्थंकर वीर प्रभु की वाणी में विश्वास करते हुए विपुलाचल पर कर्मों को काटने के लिए चले गये। वहां जाकर दोनों ने संथारा ग्रहण किया। इस

बीच भद्रा सेठानी अपने परिवार सहित वीर प्रभु के दर्शन करने पहुँची। वहाँ दोनों मुनियों को न पाकर प्रभु से जानकारी ली। प्रभु ने सारी जानकारी दे दी और संथारा लेने तक का ज्ञान करा दिया।

सारा परिवार विपुलाचल पर दर्शन करने गया। भद्रा माता के बहुत नम्र निवेदन पर भी शालिभद्र और धनाऊ ने उनकी ओर नहीं देखा और न हिले डुले। दोनों में धनाऊ सेठ ने अपने कर्म बंध तोड़ कर मुक्ति लक्ष्मी का वरण किया और शालिभद्र ने सर्वार्थ सिद्धि विमान में देव भव को प्राप्त किया। पुनः जन्म लेकर मोक्ष धाम को प्राप्त करेंगे।

साध्वी तीर्थ में श्रेणिक का परिवार—

तीर्थंकर महावीर के राजगृह में पधारने पर श्रेणिक सम्राट् की कई रानियां दर्शन करने गई। समवसरण में उनका उपदेश सुनकर आध्यात्मिक प्रगति करने की ठान ली। वे अपने महलों में जाकर श्रेणिक से आज्ञा प्राप्त करने में सफल हो गई। आज्ञा प्राप्त कर तीर्थंकर महावीर की शरण में दीक्षित होकर प्रमुख साध्वी चंदना के नेश्राय में साध्वियां रूप में सम्मिलित की गई। इस तरह तेरह रानियों ने एक साथ साध्वी तीर्थ में सम्मिलित होकर अपना आध्यात्मिक उत्क्रमण की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। पूर्व कृत पाप कर्मों का नाश करने के लिए निर्जरा तत्व के आधीन तपश्चर्यादिकृत्यों का आराधन करने लगीं। अंत में मोक्ष में पधार गई।

तीर्थंकर महावीर विचरते हुए एकदा चम्पानगरी में पधारे। वहां की शासन सत्ता कोणिक के हाथ में थीं। वास्तव

में श्रेणिक का साम्राज्य ही कोणिक ने अपने पिता से जबरदस्ती प्राप्त कर लिया था। कोणिक के बहलकुमार आदि ग्यारह भाई थे। श्रेणिक के ही पुत्र थे। कोणिक इन सभी में राजनीति निपुण और व्यवहार कुशल था। वह अपने पिता श्रेणिक को किसी तरह राज्य से दूर कर सारा राज्य प्राप्त करना चाहता था। उसकी इच्छा थी कि किसी तरह श्रेणिक को मार कर भी, राज्य मुझे हथियाना ही है। कोणिक ने अपने दसों भाइयों को बहुत समझा-बुझा कर अपने पक्ष में कर लिये और ग्यारहों भाइयों में साम्राज्य का समान विभाजन करने का विश्वास दिला दिया। दसों भाइयों ने अपने पिता का साथ छोड़कर कोणिक के पक्ष में हो गये। सम्राट् श्रेणिक को इस स्थिति में पाते ही कोणिक ने उन्हें कैद कर लिया और कारागृह में बंदी बनाकर डाल दिया। सारा साम्राज्य उसके हाथ में आगया। इस तरह सारे राज्य को हथिया कर खुशी में अपनी माता को प्रणाम करने गया और उसे सारी हकीकत सुनादी। रानी काली को अपने पति की इस दुर्दशाभरी वार्ता पर बड़ा दुःख हुआ और बड़े गुस्से में आकर कोणिक को फटकारने लगी—"दुष्ट अपने पिता को बंधन में डालकर तू साम्राज्य का मालिक बन के बैठ गया। तुझे शर्म नहीं आई, ऐसे दुष्कृत्य को करते ! मालूम है, तुम जो अभी इस स्थिति में वर्तमान हो, वह सब उसी पिता का उपकार था। मैने तेरे पैदा होते ही, तेरी गर्भ की प्रवृत्तियों से घबराकर, तुझे रोड़ी-कूड़े कचरे में फिकवा दिया था। यह तेरा पिता श्रेणिक ही दयावान पुरुष था कि जिसने तुझ पर कृपाकर वहाँ से उठा मंगाया। और उसी की देख रेख में तुझे पाल पोष कर बड़ा किया और इस योग्य बनाया। क्या पोषक पिता पर इस तरह का

क्रूर व्यवहार करते तेरे हाथों के टुकड़े नहीं हो गये। बेशर्म! तू मेरे सामने से चला जा, मुझे अपना मुंह न दिखा।" रानी के ऐसे मर्म और दुख भरे वचन सुनकर कोणिक का हृदय पिघल गया। वह अपनी भूल महसूस करने लगा। अपने किये का पश्चाताप करने लगा। इस दुष्कृत्य का प्रायश्चित लेने के लिए सम्राट् श्रेणिक को शीघ्र कैदखाने से हटाने और उसके पैरों की बेड़ियाँ काटने के लिए कोणिक स्वयं एक लोहे का हथियार लेकर श्रेणिक के सामने जा पहुंचा। श्रेणिक ने दूर से ही अपने पुत्र को कुल्हाड़ी जैसे प्रहारकारी लोहे का शस्त्र लाते हुए देखकर सोचा कि पुत्र मेरी हत्या करने को आ रहा है। अच्छा हो, मै स्वयं अपने आपको समाप्त करदूं और कुल्हाड़ी के गहरे आघातों और उसकी होने वाली पीड़ा से बच जाऊं। दर्द भरी मौत दूसरे के हाथ से मरने की अपेक्षा स्वयं मर जाना अच्छा है। पुत्र के हाथ से मृत्यु पाने की अपेक्षा आपघात कर लेना ही उत्तम है। श्रेणिक ने अपनी अंगुली की हीरकणी वाली अंगूठी हाथ से निकाली और तुरंत उसे मुंह में रखली। कोणिक के उसके पास पहुंचने और बेडिया काटने के पूर्व ही श्रेणिक स्वर्ग धाम सिधार गया। कोणिक ने अपने पिता की इस तरह मृत्यु हो जाने से बहुत पश्चाताप किया। खूब रोया, लेकिन अब हो क्या सकता था। वह अपने पिता के शव का संस्कार कर पुन: राज्य कार्य में जुट गया। अपने वचनों के अनुसार सभी दसों भाइयों को बराबर हिस्सा दे दिया। इस तरह राज्य ग्यारह भागों में विभाजित हो गया।

कोणिक का एक छोटा भाई बहल्लकुमार कोणिक के पास ही रहता था। इस तरह छोटे छोटे ग्यारह भागों में

साम्राज्य बंट जाने पर भी बहलकुमार को साम्राज्य का भाग नहीं मिला। कोणिक इस तरह राज्य करते, समय व्यतीत कर रहा था। कोणिक की माता काली देवी तीर्थंकर वीर प्रभु के दर्शन करने गई। वहां उसने काली कुमार के युद्ध में जाने और वापस नहीं लौटने के विषय में प्रश्न पूछा। भगवान ने काली कुमार की मृत्यु से अवगत कराया। काली माता को इस अशुभ समाचार से संसार की असारता और परिवार की ममता का भान हुआ। तीर्थंकर महावीर की शरण में काली देवी ने (कोणिक की माता ने) दीक्षा ली और चंदनबाला साध्वी प्रमुखा की शिष्या बनी। काली देवी ने खूब लंबी लंबी तपस्याएं कीं। अंत में संथारा कर अनशन धारण किये। अपनी आत्मा को कषायों से मुक्त कर, मुक्ति लक्ष्मी का वरण किया। धन्य हो काली देवी को, जिसने तपस्याओं का जड़ लगा दिया और आदर्श तपस्या का रेकर्ड कायम कर, इस तप पथ पर भव्यात्माओं को बढ़ने को प्रेरणा दी। काली देवी तुम धन्य हो ! तुम्हारा तपोधन धन्य हो गया और तुम स्वयं अमर बन गई। तीर्थंकर महावीर के तीर्थ में तुमने अमरयश का कीर्तिमान कायम किया। आज भी स्तवनों द्वारा तुम्हारा अमर यश सर्वत्र फैल रहा है और तुम्हारे पथ पर चलते हुए भव्यात्माएँ अमर बन रही हैं।

न्यायोचित धर्म युद्ध—

कोणिक के सम्राट होने पर उसके साथ रहने वाले छोटे भाई बहल कुमार को राज्य का हिस्सा न मिलने पर भी उसके मन में कोई विषाद नहीं था। वह कोणिक के साथ प्रेम से रहने लगा। उसकी अज्ञानुसार कार्य करता रहा। लेकिन श्रेणिक द्वारा उसको दिया हुआ श्वेत हाथी और

बहुमूल्य हार उसकी निजी निधि-रूप में सारे राज्य में प्रशस्त थे। ये दोनों वस्तुएं इतनी कीमती थी कि राज्य के कोणिक पक्ष के लोगों ने, कोणिक को दोनों वस्तुएं अपने छोटे भाई से ले लेने के लिए उकसाया। कोणिक ने इस पर ध्यान न दिया तो उसकी रानी के द्वारा उसको मजबूर कराया गया। अन्त में कोणिक ने अपने भाई को हाथी और हार सौंप देने का आदेश दे दिया। भाई बहलकुमार ने बड़े विनय भाव से कोणिक को कहा—भैया ! मैं छोटा हूं और तुम्हारे ही साथ, तुम्हारी आज्ञा में रहता हुआ जीवन यापन कर रहा हूं, फिर हाथी और हार का आप द्वारा विशेष रूप से मांगना उचित नहीं है। मुझे आपने राज्य का हिस्सा भी नहीं दिया और न कोई विशेष प्रकार की रियायत ही दे रखी है। मेरे पिता ने खुश होकर सभी भाइयों को बहुमूल्य वस्तुएं दी थीं। मुझे भी उक्त दोनों वस्तुएं उन्हीं से मिली हैं। आपने मेरे अन्य भाइयों से उनको उनकी वस्तुएं नहीं मांगी और मुझ से ही आप क्यों दबाकर ले रहे हैं ? मैं आपका ही हूं मेरी वस्तुएं आपकी ही हैं। आप चाहें तब मेरे से लेकर उन्हें वापरें। लेकिन मेरे अधिकार की वस्तुएं मुझे दबाकर, मजबूर कर आप मेरे से लेवें, यह उचित नहीं है। आप राजा हैं, आप किसी भी तरह से वस्तुएं छिन भी सकते हैं, लेकिन इस तरह का व्यवहार अपने भाई के साथ तथा आपके साथ जीवन यापन करने वाले छोटे भाई के साथ किसी भी तरह उचित नहीं है। आप स्वयं सोचें। प्रजाजन तुल्य मुझ छोटे भाई को अपने संरक्षण से दूर न करें। मैं आपके ही भरोसे हूं।

कोणिक को छोटे भाई के वचन अनुकूल मालूम नहीं पड़े। उसने जबरदस्ती छिन लेने की धमकी दे दी। छोटे

भाई ने भी शरीर में प्राण रहते, बिना लड़े, देने के लिए इनकार कर दिया। वह समय और दृष्टि बचाकर राजधानी से हाथी और हार साथ लेकर अपने नाना राजा चेड़ा के पास वैशाली चला गया। कोणिक ने इस तरह भाई को अपने हाथ से बाहर निकलते देख कि वह अपने नाना चेड़ा राजा के यहां पहुंच गया है। उसने चेड़ा राजा को लिख भेजा कि मेरा भाई हाथी और हार लेकर चला आया है, उसे उन दोनों वस्तुओं के साथ मुझे सौंप दें अन्यथा युद्ध होगा। चेड़ा राजा ने कोणिक को उत्तर भेज दिया कि "यदि तुम हार और हाथी लेना चाहते हो तो तुम्हारे अन्य दसों भाइयों की तरह इसे भी राज्य के एक हिस्से का मालिक बनाओ, अन्यथा हार और हाथी तुम्हारे आदेश मात्र से नहीं मिल सकते।" इस उत्तर को प्राप्त कर कोणिक क्रोधांध हो गया और दसों भाइयों को अपना साथ देने और युद्ध कर हार और हाथी प्राप्त करने के लिये तैयार किये। दसों भाई भी अपनी 2 सेना लेकर भाई से आ मिले। कोणिक सहित ग्यारह भाइयों की तेंतीस हजार हाथी वाले सैनिक, तेंतीस हजार घोड़े सवार सैनिक, तेंतीस हजार रथ सवार सैनिक और तेंतीस क्रोड़ पैदल सैनिक सेना तैयार हो गई।

इधर चेड़ा राजा ने भी नौ लच्छवी और नौ मल्ली राजाओं को आमंत्रित किया। सत्य और धर्म की लड़ाई के लिये उन्हें साथ देने को संदेश भेजा। १८ राजा वीर धर्मी थे और राजा चेड़ा स्वयं महावीर का अनुयायी था। न्याय और शरणागत की रक्षा रूप धर्म के लिए सबने एक स्वर से कोणिक द्वारा घोषित युद्ध को लड़ने की स्वीकृति दी। सब सत्तावन हजार हाथी, सत्तावन हजार घोड़े, सत्तावन हजार

रथ और सत्तावन क्रोड़ पैदाती सेना सम्मिलित युद्ध क्षेत्र में आ डटी। वैशाली का मैदान ही युद्ध क्षेत्र बन गया। दोनों ओर से व्यूहों की रचना प्रारम्भ हुई और न्यायानुसार युद्ध क्रम चलने लगे। घुड़ सवारों से घुड़सवार, हाथी सवार से हाथी सवार, रथवाले, रथ सवारों से और पैदल, पदातियों से लड़ने लगे। इस तरह काशी, कोशल और वैशाली राजाओं की सेना न्याय के लिए युद्ध स्थल में सम्राट् कोणिक के ग्यारहों भाइयों की सेना से भिड़ गई। घमासान युद्ध हुआ। युद्ध में कोणिक की सेना के पैर उखड़ने लगे। कोणिक घबराने लगा। कोणिक ने इस विपत्ति के समय देव मित्र को याद किया। इन्द्र देव मित्र ने उसको मदद करने के लिए कई शस्त्रास्त्रों का सहयोग दिया और दूर रह कर हर तरह से उत्साह वर्द्धक प्रेरणाएं देता रहा। सैनिक शस्त्रास्त्र सामग्री एवं उत्साह वर्धक प्रेरणाओं से युद्ध रत हो गये। चेड़ा राजा को युद्ध में हार जाना पड़ा। कोणिक युद्ध में विजयी हुआ। इस युद्ध में कोणिक के कालीकुमार आदि दसों भाई मारे गये और दोनों सेनाओं में एक क्रोड, अस्सी लाख मानवों की मृत्युएं हुई। महाशिला पट्टकास्त्र, रथ मूलास्त्र और अन्य कई प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग किया गया। एक एक अस्त्र से लाखों लाखों आदमी मारे गये। १ घंटे में लाखों मानवों का मारा जाना, इन दिव्यास्त्रों के प्रयोग की कथा है।

लाखों क्रोडों के संहार के बाद भी हार और हाथी कोणिक के हाथ नहीं लगे। हाथी जल गया और हार जिसका था, वह उठा ले गया। दो की लड़ाई में तीसरे को लाभ वाली कहावत चरितार्थ हुई।

यह युद्ध धर्म युद्ध के रूप में माना गया। स्वयं तीर्थंकर महावीर ने न्याय के लिए लड़ने वाले को और शरणागत की रक्षा करने वाले को,हिंसक नहीं माना। अपना अनुयायी मानकर प्रशंसा की। वीर की अहिंसा, वीर का न्याय, वीर का धर्म और वीर की क्षमा समझने के लिए वीर की शक्ति और वीर की बुद्धि चाहिये। आज के श्रमणों ने पंचेन्द्रिय घात में सातवीं नरक में जाने के उपदेश देकर वीर के अनुयायियों को नपुंसक और कायर बना दिये हैं। वे युद्ध नाम से डरते हैं और न्याय के नाम से घबराते हैं। बेला, तेला, मास खमण, दया, उपवास, पौषध सब कर लेंगे, लेकिन जहां धर्म की रक्षा के लिये, जीवों की दया के लिए और प्राणियों की प्राण रक्षा के लिये लड़ना पड़े, पैसा खरचना पडे, वहां दुम दबाकर भाग जायेंगे। वीर के उपासकों ! आंखे खोलो और वीर के रहते हुए, किये गये, इस धर्म युद्ध के मर्म को समझो !

तीर्थंकर महावीर एक बार राजगृही नगरी के नालन्दा मोहल्ले से कुछ दूर हस्तियाम बाग-वंन में विराजे थे। गोतम गणधर भी वहीं थे। पार्श्वस्थ संघ के उदकमुनि विचरते हुए वहां आये। उन्होंने गोतम गणधर से प्रश्नोत्तर किये, जिनका विशद विवरण सूत्रकृतांग में है। दोनों के संलाप से उदकमुनि तीर्थंकर महावीर के संघ-तीर्थ में सम्मिलित हो गये।

गोशालक के अनुयायियों का तीर्थ प्रवेश

तीर्थंकर महावीर के तीर्थ का विरोधियों के अनुयायियों के प्रवेश से संवर्धन होता गया। गोशाला उस समय

में महान् तीर्थ प्रवर्त्तक था। अपने आपको अर्हंत और सर्वज्ञ कहता था। उसमें अष्टांग नैमितिकज्ञान वर्तमान था। अष्टांग नैमितिकज्ञान बल से भूत, भविष्य एवं वर्तमान की बातें जनता को बताता था और अपनी तीर्थ प्रवर्तना करता फिरता था। एक बार आर्द्रकपुर का एक राजकुमार मोह कर्म के उपशान्त होने से जाति स्मृतिज्ञान का धारक बन गया और उसने दिल में भगवान की शरण में जाकर दीक्षित होने का निर्णय कर लिया। जब वह भगवान की शरण में जा रहा था तो रास्ते में मंखली पुत्र गोशाला मिल गया। उसने आर्द्रक राजकुमार से उसके गन्तव्य स्थान का प्रश्न पूछा। आर्द्रक राजकुमार ने अपने मन की स्पष्ट निवेदना करदी। गोशाला ने उसे रोक कर इस तरह समझाना प्रारंभ किया–"हे आर्द्रक राजकुमार! तुम किसके पास जा रहे हो। महावीर अपने आपको सर्वज्ञ एवं अरिहंत कहते हैं। वे तो भूठे हैं। उनके आचार विचारों मे तुम अनभिज्ञ हो। वे पहले अकेले और नग्न रूप में विचरते थे और मौन रहते थे। अब जनता को भरमाकर चेले, चेली बनाकर, उनके साथ विचरते हैं और उपदेश देते फिरते हैं। दुनियां को ठगने के लिए अपना एक दल बना लिया है। उनके चक्कर में तुम मत आओ। मैं स्वयं अर्हंन हूँ, सर्वज्ञ हूँ और तीर्थंकर हूँ। जनता मेरे आकर्षण से मेरे संघ में सम्मिलित हो रही है। तुम भी मेरे पास दीक्षित होकर तुम्हारा कल्याण करो।" आर्द्रक राजकुमार ने शान्ति से उत्तर दिया-"गोशालकजी! आप स्वयं योग्य एवं पात्र हो सकते हो, लेकिन मुझे तो वे ही सर्व श्रेष्ठ, मेरे उपकारी और आत्मा की ऋद्धि को बढ़ाने वाले मालूम हुए हैं। मैं उन्हीं के पास दीक्षित होऊंगा आपने उनके अकेले और शिष्यों

सहित रहने और मौन धारण करने तथा उपदेश देने सम्बन्धी अन्तर का उल्लेख किया, लेकिन उनके हृदय में अनेक के साथ रहने में कोई विकार या अन्तर पैदा नहीं होता। वे राग द्वेष रहित वीतराग हैं। उनको अकेले और समाज में रहने में कोई राग द्वेष नहीं होता। उन्होंने मानव जाति के कल्याण करने के लिए अपना आत्मिक बल प्राप्त किया और आत्मिक बल प्राप्त होने पर, अब जगत कल्याण के लिए उपदेश देने का कार्य चालू कर दिया है। पूर्व आत्मा को सशक्त बनाने के लिए मौन धारण करना और अकेला रहना उचित था, अब जगत कल्याण के लिए प्रचार हेतु समाज में रहना आवश्यक हो गया है। उपदेश देना तो परमावश्यक हो गया है। आप उनकी हीलना निन्दा न करें। उस तीर्थंकर महावीर की क्रियाशीलता में शंकाशील न बनें।" गोशालक ने पुनः राजकुमार को समझाना प्रारंभ किया—"हे राजकुमार ! महावीर ने मौन और उपदेश तथा अकेले और समाज के साथ रहने में कोई अन्तर नहीं माना है, तो स्त्री एवं सचित्तादि का सेवन करने वाले साधु और और नहीं करने वाले साधुओं में कोई अन्तर नहीं मानना चाहिए।

महावीर की मान्यता में यह प्रवाह भासमान होता है। आर्द्रक राजकुमार ने उत्तर दिया—गोशालकजी। "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा" वाली कहावत क्यों चरितार्थ कर रहे हो। जो संचित द्रव्य, स्त्री एवं नैमेतिक आहार का भोग करते हैं, वे साधु कैसे रह सकते हैं ? वे तो गृहस्थ ही हो सकते हैं। आप छद्मस्थ स्थिति और वीतराग स्थिति की क्रिया कलापों को एक समान न

समझें। वीतरागी आत्मा को किसी भी अनुकूल क्रिया से न हर्ष होता है और न विपरीत क्रिया मे द्वेष। रागद्वेष के विजेता जिन स्वयं तीर्थंकर महावीर हैं। उन्हें उनके प्रचार मार्ग में बहने दो और प्रचार प्रवाह में बाधक रूप न बनो। आप मुझे किसी भी तरह समझाओ, बुझाओ। आपकी एक भी बात मेरे गले नहीं उतर सकती। मैंने अमृत पान कर लिया है, अब दूसरे पथ की तरफ मेरा मन भी नहीं बढ़ता। तुम किसी तरह मुझे रोक कर रसास्वादन कराना चाहते हो, लेकिन मुझे तुम्हारे सभी वचन बेस्वाद और बेसुरे मालूम दे रहे हैं। आप अपने गंतव्य को जाइये। मैं अपने गंतव्य का गमन करता हूँ।"

इतना सुन गोशाला का पारा चढ़ गया। वह राजकुमार को भली बुरी सुनाने लगा और कहने लगा—"तुम अन्य तीर्थियों की बुराइयाँ कर रहे हो। सचित्तादि नैमेतिक पदार्थों एवं स्त्रियों को सेवन करने वाले मोक्षाभिलाषी तीर्थियों की निन्दा करके क्यों विरोध मोल ले रहे हो।" आर्द्रक राजकुमार ने गोशालक का मुँह यों बोल कर बंद किया कि"भले आदमी! आपने ही मेरे मार्ग का अवरोध कर, मुझे बरगलाना चाहा। मैंने किसी भी मत की निंदा नहीं की। आपके पूछे हुए प्रश्नों के, मेरी मान्यतानुसार उत्तर दिये हैं। मेरे विचार प्रकट करने और आपके प्रश्नों के उत्तर देने में ही निंदा समाई हुई है तो फिर आप मेरे मान्य मत की बुराई क्यों कर रहे हैं ?" "आप खायें काकड़ी और दूजों को देवें आकड़ी" वाली कहावत चरितार्थ कर रहे हो। स्पष्ट और निष्कपट बातों को बताने पर आपको चिढ़ आवे

और दूसरों को दबाने के लिए निंदा शब्दों का प्रयोग करो, यह अशोभनीय है।"

इस तरह सुना गया कि राजकुमार को कई मत-मतान्तर वाले बहकाने में अग्रसर हुए, लेकिन वह भ्रमित नहीं हुआ और तीर्थंकर वीर की शरण में जाकर, दीक्षित हो गया। महान अनुभव, जातिस्मृतिज्ञान और विवेक बल के सहारे तप और संयम की आराधना करता हुआ महावीर के तीर्थ का प्रचार करने लगा।

गोशाला के नैमेतिक ज्ञान के बल से उसके तीर्थ का वर्धन होता गया। हजारों साधु साध्वी बने। लाखों अनुयायी बने। जब श्रावस्ती में तीर्थंकर महावीर विराज रहे थे, तभी गोशाला भी अपने शिष्य-शिष्या परिवार से वहां आया। नगर में उसके अरिहंत और सर्वज्ञ की महिमा गाई जा रही थी। तीनों काल की भविष्य वाणी से जनता विमुग्ध थी और चमत्कार को नमस्कार की भांति अनुयायी बनती जा रही थी। नगर की स्थिति का ज्ञान गोतम ने महावीर के सामने रखा। महावीर ने गोशाला को अजिन बताया और अष्टांग नैमेतिक कहा। वीर ने कहा—"वह मेरे साथ रहा। मैंने उसे दीक्षित किया। मैंने ही अष्टांग नैमितिक-ज्ञान सिखाया और तेजोलेश्या भी मेरे सान्निध्य में रहकर प्राप्त की।

उस नगरी में कुछ समय पश्चात् तीर्थंकर महावीर का एक साधु आनंद गया तो गोशाला ने पास बुलाकर कहा "तुम्हारे तीर्थंकर महावीर मुझे मंखली पुत्र गोशाला कहते हैं। उन्हीं का शिष्य बतलाते हैं। मेरे अरिहंत होने में

उन्हें संदेह है। वे अपने को ही अरिहंत सर्वज्ञ कहते हैं। इस तरह मेरे और मेरे परिवार की निरंतर निंदा करते रहते हैं। तुम उन्हें जाकर कहना कि आपकी इस वृत्ति मे गोशालक में वैर बुद्धि की जागरणा हो गई है। वह स्वयं तेजोलेश्या से आपको और आपके परिवार को भस्मीभूत कर देगा। आप तेजोलेश्या से स्वयं को बचा न पाओगे और अपनी तीर्थंकर और सर्वज्ञ की महिमा तथा परिवार को समूल नष्ट कर दोगे।"

यह बात सुन आनंद मुनि ने तीर्थंकर महावीर के पास जाकर सारी की सारी, ज्यों की त्यों सुनादी। उन्होंने आनंद को, सभी मुनियों को गोशाला को नहीं छेड़ने और उससे निकट संपर्क नहीं करने का संदेश कह सुनाया कि गोशालक तेजोलेश्या धारी है और उसका असर तीर्थंकर के शरीर के अलावा सभी पर अत्यन्त घातक होना है। संयम हेतु शरीर की रक्षा करना है। अतः कोई मुनि या आर्या गोशालक को क्रोधित होने का अवसर न दे। इस घोषणा के कुछ समय पश्चात् गोशालक स्वयं महावीर के पास आये और उन्होंने अभद्र शब्दों का प्रयोग कर उनको हीलना व निदात्मक शब्द कहे और इस तरह वचनों का प्रहार किया कि "हे काश्यप! तू मुझे मंखली पुत्र कहकर मेरी निंदा करता है, वह उत्तम कार्य नहीं है। मैं सर्वज्ञ और अरिहंत हूं। मुझ में तुम्हारे साधुओं और तुमको भस्म करने की शक्ति है। बोल तुम क्या चाहते हो! अब भी तुम मुझे अपना शिष्य बनाओगे?"

तीर्थंकर ने शांत चित्त से उत्तर दिया "तुम वही मंखली पुत्र गोशालक हो, जो पहले मेरे साथ रहे। दीक्षित हुए।

लब्धियां और तेजोलेश्या प्राप्त की। मैं तुम्हें भली भांति जानता हूँ। मिथ्या वचन बोलना कैसे शोभा देता है?" गोशाला बोला–'काश्यप! अपना मुंह बंद करो, नहीं तो अभी भस्मीभूत कर दूंगा।" गोशाला की अनाधिकार चेष्टा और अपलाप सुनकर पास ही बैठे सर्वनाभूति मुनि और सुनक्षत्र मुनि ने उससे कहा—"छोटे से छोटे प्राणी भी अपने किये उपकार को नहीं भूलते और इस तरह का व्यवहार उपकारी पर नहीं करते, लेकिन आज आप जैसे मानव को क्या सूझी कि आपके ही गुरु और शिक्षक को आप निन्दात्मक शब्द कह रहे हैं और जान से मारने की धमकी दे रहे हैं, यह उचित नहीं है। तुम्हारा ज्ञान, भार रूप है। ध्यान कलंक मय है। तपस्या कष्टदायक है और तुम्हारा सारा आडंबर व्यर्थ है। तुम्हारा होना न होना बराबर है। तुम संसार में भार रूप हो। ऐसे जगदोद्धारक वीर तीर्थंकर की अवहेलना मत करो।"

इन शब्दों से गोशालक क्रोधित हो गया और सर्वानुभूति पर तेजोलेश्या छोड़ दी। सर्वानुभूति ने अपना आत्मकल्याण करने के लिये आई हुई विपत्ति को शांतचित्त से सहने की तैयारी कर ली। सर्वानुभूति का शरीर झुलस गया और वे मरकर स्वर्ग धाम सिधार गये। इतना अमंगल होते देख सुनक्षत्र मुनि ने गोशाला को बहुत कुछ कहा और ऐसे कृत्य करने से रोकने का प्रयास किया, लेकिन वह उल्टा असर कर गया। गोशाला ने उसे भी तेजोलेश्या से जला डाला। सुनक्षत्र मुनि भी स्वर्ग सिधार गये। गोशाला ने अपनी तेजोलेश्या की सफलता देखकर तीर्थंकर महावीर पर तेजोलेश्या छोड़ दी। तीर्थंकर ने शांत भाव से समझाया

पर कोई असर नहीं हुआ। तेजोलेश्या महावीर को सामान्य दग्ध कर वापस लौटी और गोशाला के शरीर में प्रवेश कर गई। गोशाला का अन्तर्शरीर दाह होने लगा और झुलसता हुआ किसी तरह अपने ठहरने के स्थान पर पहुंच गया। तेजोलेश्या छोड़ने और वीर के शरीर में दाह पैदाकर, वापस उसके शरीर में प्रवेश करने के अवसर पर गोतम गणधर ने, उसे बहुत समझाया लेकिन क्रोध वेग में वह सब भूल गया। छः दिन की तीव्र वेदना के साथ गोशाला ने देह छूटने के पूर्व अपने आप का भान प्राप्त किया और सही स्थिति में अपनी आत्मा को स्थिर कर अपने गुरु तीर्थंकर वीर प्रभु पर किये गये अपकार के कार्यों एवं तेजोलेश्या के प्रहार से हृदय में बहुत बहुत विषाद पैदा हुआ। उसे अपने किये पर पश्चाताप हुआ। दुखित मन से अपने सभी शिष्यों और अनुयायियों को सामने बुलाकर आदेश दिया कि "मैंने अपने गुरु भगवान महावीर की निंदा की और उनको तेजोलेश्या से शारीरिक कष्ट दिया, यह मेरी भयंकर भूल हुई है। मैं पश्चाताप पूर्वक आपको आदेश देता हूं कि वे सही मार्ग के उपदेशक और संचालक हैं। अतः आप सभी उनके तीर्थ में जाकर सम्मिलित हो जाओ। अपनी आत्मा का कल्याण करो। मैं अपने किये का फल पाकर अपने शरीर को छोड़ रहा हूं। आप मेरे पर विश्वास कर शीघ्र उनकी शरण में चले जाओ।"

गोशालक के पश्चाताप मय आदेश से सभी शिष्य और अनुयायी तीर्थंकर महावीर के तीर्थ में सम्मिलित हो गये। इस तरह वीर ने अपने विरोधी गोशालक पर विजय प्राप्त की। अपने शरीर दाह को शांत करने के लिए सिंह

अणगार से रेवती नाम की गाथापत्नी से बिजौरे का पाक भिक्षा में मांग लाने को कहा। सिंह मुनि ने महावीर की आज्ञानुसार पास के ग्राम में जाकर रेवती के यहां से बिजौरे का पाक लाये और वीर ने उसका आहार कर, अपनी दाह को शांत की। इस प्रकार तीर्थंकर शरीर से पूर्ण स्वस्थ हो गये।

तीर्थंकर महावीर विचरते हुए दशार्णपुर बस्ती में पधारे। वहां के राजा को बड़ा मान था। जब वह भगवान के उपदेश सुनने समवसरण में आया तो उसी समय एक देव का, अच्छा सजा हुआ हाथी देखकर, उसके धन का अभिमान चूर हो गया और आत्म कल्याण के लिए तीर्थंकर महावीर के तीर्थ में दीक्षित होकर आत्म कल्याण कार्य में लग गया।

श्रावस्ती नगर में एक बार तीर्थंकर महावीर के दर्शनार्थ और उपदेश श्रवणार्थ सारी जनता और शंखजी, पोखलीजी आदि श्रावक समवसरण में आ जमे। रास्ते में शंखजी व पोखलीजी दोनों ने भोजन करके पौषध करने का भी निर्णय लिया था। लेकिन दोनों के अलग होने पर शंखजी का विचार बदल गया और निराहार पौषध व्रत स्वीकार कर लिया। भोजन की व्यवस्था पोखलीजी के यहां तय पाई थी। जब शंखजी भोजन में नहीं आये और इतर सभी श्रावक आ गये तो वे उनको घर बुलाने गये। वहां प्रतिपूर्ण पौषध व्रत में पाये गये। उनको बड़ा गुस्सा आया। दूसरे दिन तीर्थंकर महावीर ने दोनों के बीच पड़े विभेद को समझाकर दूर किया।

तीर्थंकर महावीर के क्रोड़ों अनुयायी थे। तीर्थ के

चारों पाये में इस प्रकार की संख्या हो गई थी—साधु चवदह हजार, साध्वी छत्तीस हजार, श्रावक एक लाख, अठावन हजार और श्राविकाएँ तीन लाख, अठारह हजार हो गई थीं। तीर्थंकर महावीर ने अपने आध्यात्म-ज्ञान का जागरण कर कैवल्य को प्राप्त किया। तीर्थंकर बनकर तीर्थंकी स्थापना की। धर्म का प्रचार करने और अधर्म को हटाने के लिए तीर्थ द्वारा प्रचार प्रसार क्रियाएँ कीं। उपदेश दिये। ग्राम नगर विचरे। छोटे से छोटे और ऊंचे से ऊंचे कुल में आहार की गवेषणा की। स्त्री पुरुष को समान अधिकार दिये। पढ़ने और आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़ने के समान अवसर दिये। स्त्री को मुक्ति तक प्राप्त होने की योग्यतम पात्र बनाई। शूद्रों का सत्कार किया। गृहस्थजीवन और साधु-जीवन में समान अधिकार दिये। दीक्षाएं दी। अपने साथ आहार—विहारादिकृत्यों में सम्मिलित किये। गृहस्थ धर्म का उपदेश दिया। न्याय युक्त कार्य में लाखों क्रोड़ों आदमियों की हत्या को भी नगण्य बताई। वेदों पर होते हुए वाद-विवादों को शांत किये। कुवेद प्रचार का नाश किया। हिंसामय क्रिया कांडों को समाप्त कर दिये। हिंसाकारी यज्ञों को चलाने वाले दिग्गज पंडितों को अपने तेज बल से तीर्थ में सम्मिलित कर लिये। जगदोद्धारक तीर्थंकर महावीर ने भव्य जीवों के कल्याण के लिये साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका के धर्माचरणों को प्रशस्त किया। गृहस्थ और साधु धर्म की प्रेरणाएँ और उपदेश दिये। नगर, ग्राम कुल, स्थवीर, राष्ट्र आदि धर्मों का प्रचार किया। समानता और शांति का वातावरण तैयार किया। धनिकों को धन ममता से दूर किया। गरीबों को ऊंचा उठाया। प्राकृत भाषा में उपदेश देकर जन साधारण की भाषा का

ओर नागरी लिपि का उत्थान किया।

जिस कार्य के लिए राजकुमार पद छोड़कर दीक्षित हुए, तपश्चर्याएँ, मौन व्रतादि धारण किये, परीषह जीते और अनार्य लोगों में घूम कर उन्हें सन्मार्ग की प्रेरणा दी। उनके अत्याचार सहन किये। इतना सब करने पर आत्म–बोध से जो प्राप्ति हुई उसे जनता में लुटा दिया। जनता जनार्दन, दिव्यानंद का लाभ लेने लगी। तीर्थंकर महावीर ने जिस कारण तीर्थ की स्थापना की, उसकी पूर्ति हो चुकी थी। तीर्थ की स्थापना कर अनेकान्त, संयम और समानता का प्रचार-प्रसार किया। अनन्त शक्तिमान आत्मा का ज्ञान दिया, अनन्त शक्तिशील जड़तत्त्व का भान कराया। पुण्य-पाप कर्त्तव्याकर्त्तव्य, संवर, निर्जरा, आस्रव, बंध तत्त्वों की ओर दृष्टि घुमाई और मुक्ति लक्ष्मी को वरण करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। भूमि को स्वर्ग तुल्य बनाई। अनेक राजा उनके शरण में आये। अनेक सेठ, सेनापति, गाथा पति और उनकी पत्नियाँ, रानियाँ उनके तीर्थ में सम्मिलित हुई। सर्वत्र महावीर के उपदेश और तीर्थ का डिंडिमनाद था। सभी विरोधीतीर्थ, लुप्त प्रायः हो गये। महावीर के अवतरण से एक बार भारत भूमि पुनः पशु गोवश की वृद्धि से पूरित हुई। शस्यश्यामला भूमि का सर्वत्र दर्शन होने लगा। धन धान्य की पर्वतमालाएँ खड़ी हो गई। दूध की नदियां बहने लगी। मानव और तिर्यंच पशु सबके प्राणों की रक्षा होने लगी। अजमेध, नर मेध, गोमेध आदि हिंसक यज्ञ लुप्त हो गये। एक बार हिंसापर अहिंसा की विजयवाहिनी पताका फहर उठी। दैत्य सिहर उठे। बदमाश, लंपटी, चोर, चुगलखोर, हत्यारे, लूटेरे और

असत्कर्मी मानव अपने कृत्यों को छोड़ कर तीर्थंकर महावीर की शरण ग्रहण कर मानव बन गये, देव बन गये। भूमि पर स्वर्ग का अवतरण हुआ। दिव्यता बर्षने लगी। भव्यता चमकने लगी। सर्वत्र आनन्द की घड़ियाँ घहराने लगी।

तीर्थंकर महावीर का निर्वाण—

महावीर का, देह विसर्जन का समय निकट समझ अपापा में पदार्पण हुआ। यही उनका अंतिम चातुर्मास था। भौतिक शरीर को छोड़ने योग्य भूमि भी वही मिली, जहां केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। तीर्थंकर अपने चारों तीर्थों से शोभायमान होते हुए अपापा में आत्म रमण कर रहे थे।

कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि थी। गोतम गणधर देवशर्मा ब्राह्मण को ज्ञान देने गये हुए थे। मध्य रात्रि का अनुकूल समय था। सारे जगत में एक दिव्य आलोक सा प्रकाश हुआ। भगवान महावीर का शरीर आत्मा का विसर्जन हुआ। उस समय उनके पास नौ लच्छी और नौ मल्ली राजा वर्तमान थे। उनके सामने इस विसर्जन के पूर्व एक उपदेश का दान हुआ। वह उपदेश उनका दैहिक उपदेश का अंतिम दान था। इसको ग्रहण कर भव्य जीव भविष्य में भी पार उतरते रहेंगे। अनन्त प्रकाश रश्मियों से पृथ्वी व्याप्त हो गई। प्रकाशमय आत्मा सीधा उर्ध्व गमन करता हुआ लोकाग्र भाग में, प्रकाश में प्रकाश मिल गया। शरीर का स्पंदन समाप्त हुआ। देव, इन्द्र, मानव सभी तीर्थंकर के निर्वाण के समय अत्यन्त उल्लसित थे। मोहनिन्द्रा ग्रस्त साधु और साध्वियां अथवा श्रावक-श्राविकाएँ उनके वियोग से दुखी हो सकती थीं, हुई लेकिन निर्वाण-

गमन के समय तो उनके हृदयों में दिव्य प्रकाश की और दिव्यानंद की एक धार बह चली थी।

देव, दानव मानवों ने तीर्थंकर महावीर के अस्थि-पिंजर मग देह का दाह संस्कार किया। अनन्त दीपाशिखाओं की लोएँ प्रज्वलित हो गई। सारे गगन में प्रकाश पुंज बिखर गया। अमावस्या की काली रात्रि प्रकाश से भासमान हो गई। रत्नों के दीपक, स्नेह (तेल) के दीपक और अन्त हृंदय के प्रकाश के दीपक चहुँदिशि चमक रहे थे। जय ध्वनियां हो रही थीं। दुंदुंभी बज रही थी। देवों और मानवों में यह निर्वाणोत्सव बड़े पैमाने पर, बड़े आनन्द और उल्लास के साथ मनाया गया। तीर्थंकर महावीर ने इस जगती तल को उनके दिव्य प्रकाश से प्रकाशित करने के लिए गोतम गणधर को छोड़ा। लेकिन उन्हें भी केवल ज्ञान हो गया। तीर्थ का बोझ सुधर्मा गणधर को संभालना पड़ा।